॥ धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है ॥

आत्मधर्म

वर्ष तीसरा
अंक तीसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आषाढ़
२४७३

उदय और पुरुषार्थ

स्वयं त्याग नहीं कर सकता और बहाना किया करता है कि मेरे तो अंतराय बहुत आ जाते हैं। जब धर्म का प्रसंग आता है, तब 'उदय' की बात करता है। ''उदय-उदय'' कहता रहता है किन्तु कहीं कुए में नहीं कूद पड़ता। बैलगाड़ी में बैठकर जा रहा हो और मार्ग में कहीं कोई-कोई गड्ढा आ जाता है, तब कैसा संभल जाता-सावधान हो जाता है। उस समय उदय को भूल जाता है। सच तो यह है कि अपनी शिथिलता की जगह उदय का दोष ढूंढ निकालता है।

लौकिक और लोकोत्तर स्पष्टीकरण (खुलासा) भिन्न होता है। उदय का दोष निकालना, सो लौकिक स्पष्टीकरण है। अनादिकालीन कर्म दो घड़ी में नष्ट हो जाते हैं। कर्म का दोष नहीं निकालना चाहिये, किन्तु आत्मगर्हा करनी चाहिये। जब धर्म करने की बात आती है, तब पूर्व कर्म के दोष की बात (अज्ञानी) आगे लाकर रख देता है। पुरुषार्थ करना श्रेष्ठ है। पुरुषार्थ पहले करना चाहिये। मिथ्यात्व, प्रमाद और अशुभ योग का त्याग करना चाहिये।

कर्म टाले बिना नहीं टलेंगे, इसीलिये ज्ञानियों के शास्त्र की रचना की है। शिथिल होने के लिये साधन नहीं बताये। परिणाम ऊपर उठना चाहिये। कर्म उदय में आयेंगे—ऐसी बात मन में बनी रहने से कर्म उदय में आते हैं और यदि पुरुषार्थ करे तो कर्म दूर हो जाते हैं। उपकार हो, यही लक्ष्य में रखना चाहिये।

कर्म गिन-गिनकर नाश नहीं किये जाते। ज्ञानी पुरुष तो उन्हें इकट्ठा गोलमगोल करके नष्ट कर डालता है।

विचारने के लिये समस्त आलम्बनों को छोड़कर आत्म पुरुषार्थ की जय हो, ऐसा आलंबन लेना चाहिये, कर्म बंध का आलंबन नहीं लेना चाहिये।

[श्रीमद् राजचन्द्र : दूसरी आवृत्ति, पृष्ठ ४१६-वर्ष २९]

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

इस साल में दो श्रावण मास हैं। इस वजह से आत्मधर्म का आगामी अंक द्वितीय श्रावण में प्रगट होगा। अत: ग्राहकगण प्रथम श्रावण में आत्मधर्म के लिये शिकायत न करें ऐसी विनती है।

२७

फिर भी कोई सज्जन या संस्था की ओर से सत्धर्म की प्रभावनार्थ प्रथम श्रवण में आत्मधर्म प्रगट करने के लिये खर्च मिलेगा तो ग्राहकों को आत्मधर्म प्रथम श्रावण में मिलेगा।—रवाणी

छुटक अंक पांच आना

आ त्म ध र्म का र्या ल य — मो टा आं क ड़ि या — का ठि या वा ड़

आत्मधर्म

: वर्ष : ३ : क्रमांक : आषाढ़ :
: अंक : ३ : २७ : २४७३ :

पात्रता की पहली सीढ़ी —— २

इस लेख का प्रथम भाग आत्मधर्म के १२वें अंक में प्रगट हो चुका है; उस में जो कुछ कहा गया है, उसका सार यह है—

गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्व का त्याग

रा. मा. दोशी

मिथ्यात्व

मिथ्यात्व का अर्थ गलत या विपरीत मान्यता किया था। हमें यह नहीं देखना है कि पर में क्या यथार्थता या अयथार्थता है, किन्तु आत्मा में क्या अयथार्थता है, यह समझाकर अयथार्थता को दूर करने की बात है। क्योंकि जीव को अपनी अयथार्थता दूर करके अपने में धर्म करना है।

मिथ्यात्व द्रव्य है, गुण है या पर्याय ? इसके उत्तर में यह निश्चित कहा गया है कि मिथ्यात्व श्रद्धागुण की एक समयमात्र की विपरीत पर्याय है।

मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है। यह मिथ्यात्व अर्थात् सबसे बड़ी से बड़ी भूल अनादि काल से जीव स्वयं ही करता चला आया है।

महापाप

इस मिथ्यात्व के कारण जीव, वस्तु को वैसा नहीं मानता जैसा वह है, किन्तु विपरीत ही मानता है। इसलिये मिथ्यात्व ही वास्तव में असत्य है। इस महान असत्य के सेवन करते रहने में प्रतिक्षण स्व हिंसा का महापाप लगता है।

प्रश्न—विपरीत मान्यता के करने से किस जीव को मारने की हिंसा या पाप लगता है ?

उत्तर—अपना स्वाधीन चैतन्य आत्मा जैसा है, उसे वैसा नहीं माना किन्तु उसे जड़-शरीर का कर्ता माना (अर्थात् जड़रूप माना), सो इस मान्यता में आत्मा के अनंत गुणों का अनादर है, और यही अनन्ती स्व हिंसा है। स्व हिंसा ही सबसे बड़ा पाप है। इसे भावहिंसा या भावमरण भी

कहते हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है—''क्षण क्षण भयंकर भावमरण में, कहाँ अरे तू रच रहा ?'' यहाँ भी मिथ्यात्व को ही भावमरण कहा है।

अगृहीत मिथ्यात्व

(१) यह शरीर जड़ है, यह अपना नहीं है, यह जानने-देखने का कोई कार्य नहीं करता; तथापि इसे अपना मानना और यह मानना कि यदि यह अनुकूल हो तो ज्ञान हो, सो मिथ्यात्व है।

(२) शरीर को अपना मानने का अर्थ है वर्तमान में शरीर का जो देहरूप जन्म हुआ है, वहाँ से मरण होने तक ही अपने आत्मा का अस्तित्व मानना; अर्थात् शरीर का संयोग होने पर आत्मा की उत्पत्ति और शरीर का वियोग होने पर आत्मा का नाश मानना। यही घोर मिथ्यात्व है।

(३) शरीर को अपना मानने से जो बाह्य वस्तु शरीर को अनुकूल लगती है, उस वस्तु को लाभकारक मानता है और अपने लिये अनुकूल मानी गई वस्तु का संयोग पुण्य के निमित्त से होता है; इसलिये पुण्य से लाभ होना मानता है, यही मिथ्यात्व है। जो पुण्य से लाभ मानता है, उसकी दृष्टि देह पर है, आत्मा पर नहीं।

गृहीत मिथ्यात्व

उपरोक्त तीनों प्रकार अगृहीत मिथ्यात्व के हैं। यह अगृहीत मिथ्यात्व मूल निगोद से ही अनादि काल से जीव के साथ चला आ रहा है। एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक तो जीव के हिताहित का विचार करने की शक्ति ही नहीं होती। संज्ञी दशा में मंद कषाय से ज्ञान के विकास से हिताहित का कुछ विचार करने की शक्ति प्राप्त करता है। वहाँ भी आत्मा के हित-अहित का सच्चा विवेक करने की जगह अनादि काल से विपरीत मान्यता का भाव ही चालू रखकर अन्य अनेक प्रकार की नवीन विपरीतमान्यताओं को ग्रहण करता है। अपनी विचारशक्ति के दुरुपयोग से तीव्र विपरीतमान्यतावाले जीवों की संगति में आकर अनेक प्रकार की नई-नई विपरीतमान्यताओं को गृहण करता है। इस प्रकार विचारशक्ति के विकास होने पर जो नवीन विपरीतमान्यता ग्रहण की जाती है, उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं। उसके मुख्य तीन प्रकार हैं—देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और धर्ममूढ़ता अर्थात् लोकमूढ़ता।

देवमूढ़ता—अज्ञानी, रागी, द्वेष को देव के रूप में मानना। कोई बड़ा कहा जानेवाला

आदमी किसी कुदेव को मानता हो, इसलिये स्वयं भी उस कुदेव को मानना और उससे कल्याण मानना। उसकी पूजा-वन्दनादि करना तथा अन्य लौकिक लोभादि की आकांक्षा से अनेक प्रकार के कुदेवों को मानना, सो देवमूढ़ता है।

गुरुमूढ़ता—जिस कुटुम्ब में जन्म हुआ है, उस कुटुम्ब में माने जानेवाले कुलगुरु को समझे बिना मानना, अज्ञानी को गुरुरूप में मानना, अथवा गुरु का स्वरूप सग्रंथ मानना, सो गुरु संबंधी महाभूल यानी गुरुमूढ़ता है।

धर्ममूढ़ता—(लोकमूढ़ता)—हिंसा भाव में धर्म मानना, सो धर्ममूढ़ता है। वास्तव में जैसे पाप में आत्मा की हिंसा है, वैसे ही पुण्य में भी आत्मा की हिंसा होती है; इसलिये पुण्य में धर्म मानना भी धर्ममूढ़ता है। तथा धर्म मानकर नदी इत्यादि में स्नान करना, पशुहिंसा में धर्म मानना इत्यादि सब धर्म संबंधी भूल है। इसे लोक मूढ़ता कहते हैं।

—गृहीत मिथ्यात्व तो छोड़ा किन्तु—

यह त्रिधा महाभूल जीव के लिये बहुत बड़ी हानि का कारण है।

स्वयं जिस कुल में जन्म लिया है, उस कुल में माने जानेवाले देव, गुरु, धर्म कदाचित् सच्चे हों और उन्हें स्वयं भी मानता हो किन्तु जब तक स्वयं परीक्षा करके उनकी सत्यता का निश्चय नहीं कर लेता, तब तक गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता। गृहीत मिथ्यात्व को छोड़े बिना जीव के धर्म को समझने की पात्रता ही नहीं आती।

प्रश्न—इस दो प्रकार के मिथ्यात्वों में से पहले कौन सा मिथ्यात्व दूर होता है ?

उत्तर—पहले गृहीत मिथ्यात्व दूर होता है। गृहीत मिथ्यात्व के दूर हुये बिना किसी भी जीव के अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता। हाँ, किसी तीव्र पुरुषार्थ पुरुष के यह दोनों मिथ्यात्व एक साथ भी दूर हो जाते हैं।

जो अगृहीत मिथ्यात्व को दूर कर लेता है, उसके गृहीत मिथ्यात्व तो दूर हो ही जाता है; किन्तु गृहीत मिथ्यात्व को दूर हो जाने पर भी अनेक जीवों के अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र तथा लौकिक मूढ़ता की मान्यता का त्याग करके एवं देव-गुरु-शास्त्र को पहचान कर जीव ने व्यावहारिक स्थूल भूल का (गृहीत मिथ्यात्व का) त्याग तो अनेक बार किया, और असत् निमित्तों का लक्ष छोड़कर सत् निमित्तों के लक्ष से व्यवहार शुद्धि की, परंतु

अनादि काल से चली आई अपनी आत्म-संबंधी महा भूल को जीव ने कभी दूर नहीं किया। यह अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व आत्मा की यथार्थ समझ के बिना दूर नहीं हो सकता।

गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके और द्रव्यलिंगी साधु होकर अनन्त बार निरतिचार पंच महाव्रत पालन किये, किन्तु महाव्रत की क्रिया से और राग से धर्म मान लिया, इसलिये उसकी महा भूल दूर नहीं हुई और संसार में परिभ्रमण करता रहा।

सच्चे निमित्तों को स्वीकार करके व्यावहारिक असत्व का त्याग तो किया किन्तु अपने निरलंबी चैतन्यस्वरूप आत्मा को स्वीकार नहीं किया, इसलिये निश्चय का असत्य दूर नहीं हुआ। आत्मस्वरूप की खबर न होने से निमितत के लक्ष से-शुभराग से-देव-गुरु-शास्त्र से अज्ञानी लाभ मानता है; यह पराश्रितता का अनादिकालीन भ्रम मूल में से दूर नहीं हुआ, इसलिये सूक्ष्म भूलरूप अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हुआ। आत्मप्रतीति के बिना थोड़े समय के लिये गृहीत मिथ्यात्व को दूर करके शुभराग के द्वारा स्वर्ग में नौवें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु मूल में विपरीत मान्यता का सद्भाव होने से राग से लाभ मानकर और देव पद में सुख मानकर वहाँ से परिभ्रमण करता हुआ तीव्र अज्ञान के कारण एकेन्द्रिय-निगोद की तुच्छ दशा में अनन्त काल तक अनन्त दु:ख प्राप्त किया। अपने स्वरूप को समझने की परवाह न करने से और सम्यग्ज्ञान का तीव्र विरोध करने से निगोद दशा होती है, जहाँ स्थूलज्ञानवाले अन्य जीव उस जीव के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते।

कभी निगोददशा में कषाय की मन्दता करके जीव वहाँ से मनुष्य हुआ और कदाचित् धर्म की जिज्ञासा से सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर व्यवहार मिथ्यात्व को (गृहीत मिथ्यात्व को) दूर किया, किन्तु आत्मस्वरूप को नहीं पहिचाना; इसलिये जीव अनन्तानन्तकाल से चारों गतियों में दु:खी ही होता रहता है। यदि सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को पहिचानकर अपने आत्मस्वरूप का सूक्ष्म दृष्टि से विचार करे और स्वयं ही सत्स्वरूप का निर्णय करे तभी जीव की महा भयंकर भूल दूर हो; सुख प्राप्त हो और जन्म-मरण का अन्त हो। [क्रमश:]

पूज्य श्री कानजी स्वामी का जन्मदिन

वैशाख शुक्ल २, आज भक्त मंडल का हृदय आनंद से उल्लसित हो रहा है। सभी की मुख मुद्रा पर भक्तिभाव झलक रहा है..... आज भक्तजनों को भक्ति का इतना अधिक उल्लास क्यों है ?.... अहा! आज तो संपूर्ण आत्मस्वरूप की प्राप्ति का अप्रतिहत मार्ग दिखानेवाले श्री गुरुदेव से भेंट हुई है..... आज के दिन आपने भारत भूमि को पवित्र किया है।

हे स्वरूप के दाता परम कृपालु दयानिधि श्रीगुरुदेव! आज के महा पवित्र मांगलिक प्रसंग पर आप के प्रति विनयपूर्वक समर्पण कर रहे हैं, भावांजलि अर्पित कर रहे हैं।

शुद्धात्मस्वरूप में आपका उत्साह भाव, ज्ञायकस्वरूप के प्रति आपकी भक्ति और पवित्र करुणा से भरपूर आपका शासन-प्रेम इत्यादि समस्त गुणों पर हमारा मस्तक नत हो जाता है।

हे गुरुदेव! आपके उपकारों का वर्णन कैसे करें ? जब-जब आपके उपकारों का स्मरण करते हैं, तब-तब आपके पावन साक्षात् दर्शन के महाभाग्य के कारण हमारा हृदय हर्ष से खिल उठता है। आपके पवित्र योग से आज श्री कुंदकुंद प्रभु का जीवित अक्षरदेहरूप समयसार चेतनवान होकर भव्यात्माओं को शुद्धात्मा का दर्शन करा रहा है। हम जैसे अनेक जीवों पर आपका परम उपकार है, इसलिये अपार भक्तिवश हम-समस्त भक्तजन आपके प्रति भावांजलि समर्पित करते हैं।

अहा! आप तो स्वरूप-जीवन जीनेवाले हैं। अध्यात्मज्ञान से तरंगित आपके आत्म-जीवन को—आपके स्वरूप जीवन को हम क्यों कर वर्णन करें ? हे नाथ! आप स्वयं ही ज्ञानी पुरुषों के पवित्र जीवन रहस्य को हम लोगों को अहोनिश बतला रहे हैं। इस अंतर—जीवन को पहिचानने की हममें शक्ति प्रगट हो।

हे गुरुदेव! आपके द्वारा बहाई गई अध्यात्मज्ञान की सरिता ने अनेक आत्मार्थियों को आत्मजीवन अर्पित किया है और आज भी अर्पित कर रही है। अनेक वर्षों के दुष्काल के पश्चात् अमृत वर्षा होने पर तृषातुर जीवों को कितना आनंद होता है और वे कितने उत्साह से उसे ग्रहण करते हैं ? इसीप्रकार अनादि काल से बेभानदशा में अमृतस्वरूप परम शुद्धात्मा का विरह पड़ा हुआ है। स्वरूप के अमृतपान के बिना अनेक वर्ष और अनेक भव व्यतीत हो गये। अनंत काल से जन्म-मरण के आतप में परिभ्रमण करते हुये कहीं भी स्वरूपामृत का पान करने के लिये एक बूँद भी प्राप्त

नहीं हुई और जीवन शुष्क होने लगा, दु:ख की असह्य वेदना हो गई और अब शांतिस्वरूप के पान की अत्यंत तीव्र लालसा जागृत हो गई। ऐसे समय हे गुरुदेव! आप अपनी पवित्र वाणी के द्वारा स्वरूपानुभव की मूसलधार वर्षा बरसाकर आत्मतृषित जीवों को संपूर्ण स्वरूपामृत का पान करा रहे हैं।

हे परम उपकारी श्री गुरुदेव! अनंत संसार में परिभ्रमण करते हुये जीवों को आप करुणापूर्वक आत्मस्वरूप के साथ भेंट कराते हैं। स्वरूपालिंगन करते हुये किस जीव के उल्लास जागृत न होगा! कौन जीव स्वरूप का पान न करेगा? हम जीवों को वर्तमान काल में भगवान की दिव्यध्वनि के संदेश का बोध देनेवाले आप ही हैं। संसार की थकान से थके हुये जगत् के भवक्लांत जीवों को आप विश्रामस्थानस्वरूप हैं और ज्ञानामृत के पान के द्वारा उन्हें शांति देकर स्वरूप के अमृत मार्ग में आपने ही स्थित किया है-आप स्थित करते हैं। आप के पुण्य प्रताप से आज शासन का जय-जयकार हो रहा है।

हे गुण भंडार गुरुदेव! हम पामर जीव आप की क्या स्तुति करें? हमारी वाणी के द्वारा, हमारे किन्हीं शब्दों के द्वारा अथवा हमारे अपने अल्प ज्ञान के द्वारा आप की स्तुति नहीं हो सकती। आप के पवित्र गुणों के प्रति अत्यंत उल्लसित होकर हृदय में भक्ति-भाव तरंगित हुये बिना नहीं रहता, इसलिये आप की कुछ अंशों में स्तुति कर रहे हैं।

आत्मोन्नति का सुमधुर मार्ग दिखाकर अपूर्व स्वरूप संपत्ति का दान देनेवाले दिव्य दानवीर, हे गुरुदेव! आप को परम भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं। आप के पवित्र उपकारों की विमल स्मृति में पुन:-पुन:-बारंबार नमस्कार करते हैं।

जो वास्तव में अरिहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता ही है

[अंक २६ से आगे]

::जय अरिहंत::

श्री प्रवचनसारजी गाथा ८०

पहले कहा जा चुका है कि जो अरिहंत को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। अरिहंत को द्रव्य, गुण, पर्यायरूप से किस प्रकार जानना चाहिये और मोह का नाश कैसे होता है–यह सब यहाँ कहा जायगा।

श्री प्रवचनसार की गाथा ८०–८१–८२ में संपूर्ण शास्त्र का सार भरा हुआ है। इस में अनंत तीर्थंकरों के उपदेश का रहस्य समाविष्ट हो जाता है। आचार्य प्रभु ने ८२ वीं गाथा में कहा है कि ८०–८१ वीं गाथा में कथित विधि से ही समस्त अरिहंत मुक्त हुये हैं। समस्त तीर्थंकर इसी उपाय से पार हुये हैं और भव्य जीवों को इसी का उपदेश दिया है। वर्तमान भव्य जीवों के लिये भी यही उपाय है। मोह का नाश करने के लिये इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जिन आत्माओं को पात्र होकर अपनी योग्यता के पुरुषार्थ के द्वारा स्वभाव को प्राप्त करना है और मोह का क्षय करना है, उन आत्माओं को क्या करना चाहिये? यह यहाँ बताया गया है। पहले तो अरिहंत को द्रव्य–गुण–पर्याय से जानना चाहिये। भगवान अरिहंत का आत्मा कैसा था, उनके आत्मा के गुणों की शक्ति–सामर्थ्य कैसी थी और उनकी पूर्ण पर्याय का क्या स्वरूप है?–इसके यथार्थ भाव को जो निश्चय करता है, वह वास्तव में अपने ही द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप को निश्चय करता है। अरिहंत को जानते हुये यह प्रतीति करता है कि ''ऐसा ही पूर्ण स्वभाव है, ऐसा ही मेरा स्वरूप है'' अरिहंत के आत्मा को जानने पर अपना आत्मा किस प्रकार जाना जाता है, इसका कारण यहाँ बतलाते हैं। 'वास्तव में जो अरिहंत को जानता है, वह निश्चय ही अपने आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों में निश्चय से कोई अंतर नहीं है।' अरिहंत के जैसे द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, वैसे ही इस आत्मा के द्रव्य, गुण, पर्याय हैं। वस्तु, उसकी शक्ति और उसकी अवस्था जैसी अरिहंतदेव के है, वैसी ही मेरे भी है। इस प्रकार जो अपने पूर्ण स्वरूप की प्रतीति करता है, वही अरिहंत को यथार्थतया जानता है। यह नहीं हो सकता कि अरहंत के स्वरूप को तो जाने और अपने आत्मा के स्वरूप को न जाने।

यहाँ स्वभाव को एकमेक करके कहते हैं कि अरिहंत का और अपना आत्मा समान ही है,

इसलिये जो अरिहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को अवश्य जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है। यहाँ पर ''जो अरिहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है'' इस प्रकार अरिहंत के आत्मा के साथ ही इस आत्मा को क्यों मिलाया है, दूसरे के साथ क्यों नहीं मिलाया ? ''जो जगत के आत्माओं को जानता है, वह निज को जानता है''-ऐसा नहीं कहा, परंतु ''जो अरिहंत के आत्मा को जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है''-ऐसा कहा है, इसे अब अधिक स्वरूप में कहते हैं—'' अरिहंत का स्वरूप अंतिम तापमान को प्राप्त स्वर्ण के स्वरूप की भाँति परिस्पष्ट (सब तरह से स्पष्ट है)। इसलिये उसका ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान हो जाता है।''

जैसे अंतिम ताप से तपाया हुआ सोना बिल्कुल खरा होता है; उसी प्रकार भगवान अरिहंत का आत्मा द्रव्य, गुण, पर्याय से संपूर्णतया शुद्ध है। आचार्यदेव कहते हैं कि हमें तो आत्मा का शुद्ध स्वरूप बतलाना है। विकार, आत्मा का स्वरूप नहीं है; आत्मा, विकार रहित शुद्ध पूर्ण स्वरूप है, यह बताना है और इस शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रतिबिंब समान श्री अरिहंत का आत्मा है, क्योंकि वह सर्व प्रकार शुद्ध है। अन्य आत्मा सर्व प्रकार शुद्ध नहीं है। द्रव्य, गुण की अपेक्षा से सभी शुद्ध है किन्तु पर्याय से शुद्ध नहीं हैं, इसलिये उन आत्माओं को न लेकर अरिहंत के ही आत्मा को लिया है, उस शुद्धस्वरूप को जो जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह क्षय हो जाता है। अर्थात् यहाँ आत्मा के शुद्धस्वरूप को जानने की ही बात है। आत्मा के शुद्धस्वरूप को जानने के अतिरिक्त मोह क्षय का कोई दूसरा उपाय नहीं है। सिद्ध भगवान के भी पहले अरिहंतदशा थी इसलिये अरिहंत के स्वरूप को जानने पर उनका स्वरूप भी ज्ञात हो जाता है। अरिहंतदशापूर्वक ही सिद्धदशा होती है।

द्रव्य, गुण तो सदा शुद्ध ही हैं किन्तु पर्याय की शुद्धि करनी है। पर्याय की शुद्धि करने के लिये यह जान लेना चाहिये कि द्रव्य, गुण, पर्याय की शुद्धता का स्वरूप कैसा है ? अरिहंत भगवान का आत्मा द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों प्रकार से शुद्ध है और अन्य आत्मा पर्याय की अपेक्षा से पूर्ण शुद्ध नहीं है, इसलिये अरिहंत के स्वरूप को जानने को कहा है। जिसने अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप को यथार्थ जाना है, उसे शुद्धस्वभाव की प्रतीति हो गई है अर्थात् उसकी पर्याय शुद्ध होने लगी है और उसका दर्शनमोह नष्ट हो गया है।

सोने में सौटंच शुद्ध दशा होने की शक्ति है, जब अग्नि के द्वारा ताव देकर उसकी ललाई दूर की जाती है, तब वह शुद्ध होता है और इस प्रकार ताव दे-देकर अंतिम आंच से वह संपूर्ण शुद्ध

किया जाता है और यही सोने का मूलस्वरूप है। वह सोना अपने द्रव्य, गुण, पर्याय की पूर्णता को प्राप्त हुआ है। इसीप्रकार अरिहंत का आत्मा पहले अज्ञानदशा में था, फिर आत्मज्ञान और स्थिरता के द्वारा क्रमशः शुद्धता को बढ़ाकर पूर्णदशा प्रगट की है। अब वे द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों से पूर्ण शुद्ध हैं और अनंतकाल इसी प्रकार रहेंगे। उनके अज्ञान का, राग-द्वेष का और भव का अभाव है। इस प्रकार अरिहंत के आत्मा को, उनके गुणों को और उनकी अनादि-अनंत पर्यायों को जो जानता है, वह अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। अरिहंत का आत्मा परिस्पष्ट है—सब तरह से शुद्ध है। उन्हें जानकर ऐसा लगता है कि अहो! यह तो मेरे शुद्धस्वभाव का ही प्रतिबिंब है, मेरा स्वरूप ऐसा ही है। इसप्रकार यथार्थतया प्रतीति होने पर शुद्ध-सम्यक्त्व अवश्य ही प्रगट होता है।

अरिहंत का आत्मा ही पूर्ण शुद्ध है। गणधरदेव मुनिराज इत्यादि के आत्माओं की पूर्ण शुद्धदशा नहीं है, इसलिये उन्हें जानने पर आत्मा के पूर्ण शुद्धस्वरूप का ध्यान नहीं आता। अरिहंत भगवान के आत्मा को जानने पर, अपने आत्मा के शुद्धस्वरूप का ज्ञान अनुमानप्रमाण के द्वारा होता है और इसीलिये शुद्धस्वरूप की जो विपरीतमान्यता है, वह क्षय को प्राप्त होती है। ''अहो! आत्मा का स्वरूप तो ऐसा सर्व प्रकार शुद्ध है, पर्याय में जो विकार है, सो भी मेरा स्वरूप नहीं है। अरिहंत जैसी ही पूर्णदशा होने में जो कुछ शेष रह जाता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है; जितना अरिहंत में है, उतना ही मेरे स्वरूप में है।'' इसप्रकार अपनी प्रतीति हुई अर्थात् अज्ञान और विकार का कर्तृत्व दूर होकर स्वभाव की ओर लग गया; और स्वभाव में द्रव्य, गुण, पर्याय की एकता होने पर सम्यग्दर्शन हो गया। अब उसी स्वभाव के आधार से पुरुषार्थ के द्वारा राग-द्वेष का सर्वथा क्षय करके अरिहंत के समान ही पूर्णदशा प्रगट करके मुक्त होगा। इसलिये अरिहंत के स्वरूप को जानना ही मोहक्षय का उपाय है।

यह बात विशेष समझने योग्य है, इसलिये इसे अधिक स्पष्ट किया जा रहा है। अरिहंत को लेकर बात उठाई है, अर्थात् वास्तव में तो आत्मा के पूर्ण शुद्धस्वरूप की ओर से ही बात का प्रारंभ किया है। अरिहंत के समान ही इस आत्मा का पूर्ण शुद्धस्वभाव स्थापन करके उसे जानने की बात कही है। पहले जो पूर्ण शुद्धस्वभाव को जाने, उसके धर्म होता है, किन्तु जो जानने का पुरुषार्थ ही न करे, उसके तो कदापि धर्म नहीं होता। अर्थात् यहाँ ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों साथ ही हैं तथा सत् निमित्त के रूप में अरिहंतदेव ही हैं, यह बात भी इससे ज्ञात हो गई।

चाहे सौटंची सोना हो, चाहे पचासटंची हो, दोनों का स्वभाव समान है किन्तु दोनों की वर्तमान अवस्था में अंतर है। पचासटंची सोने में अशुद्धता है, उस अशुद्धता को दूर करने के लिये उसे सौटंची सोने के साथ मिलाना चाहिये। यदि उसे ७५ टंची सोने के साथ मिलाया जाय तो उसका वास्तविक शुद्धस्वरूप ख्याल में नहीं आयगा और वह कभी शुद्ध नहीं हो सकेगा। यदि सौटंची सोने के साथ मिलाया जाय तो सौटंच शुद्ध करने का प्रयत्न करे, किन्तु यदि ७५ टंची सोने को ही शुद्ध सोना मान ले तो वह कभी शुद्ध सोना प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव तो शुद्ध ही है किन्तु वर्तमान अवस्था में अशुद्धता है। अरिहंत और इस आत्मा के बीच वर्तमान अवस्था में अशुद्धता है। अरिहंत और इस आत्मा के बीच वर्तमान अवस्था में अंतर है। वर्तमान अवस्था में जो अशुद्धता है, उसे दूर करना है; इसलिये अरिहंत भगवान के पूर्ण शुद्ध द्रव्य, गुण, पर्याय के साथ मिलन करना चाहिये कि 'अहो! यह आत्मा तो केवलज्ञानस्वरूप है, पूर्ण ज्ञान सामर्थ्य है और किंचित्मात्र भी विकारवान नहीं है; मेरा स्वरूप भी ऐसा ही है, मैं भी अरिहंत जैसे ही स्वभाववंत हूँ'–ऐसी प्रतीति जिसने की, उसे निमित्तों की ओर नहीं देखना होता, क्योंकि अपनी पूर्णदशा अपने स्वभाव के पुरुषार्थ में से आती है, निमित्त में से नहीं आती; तथा पुण्य–पाप की ओर अथवा अपूर्णदशा की ओर भी नहीं देखना पड़ता क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; बस! अब अपने द्रव्य–गुण की ओर ही पर्याय की एकाग्रतारूप क्रिया करनी होती है। एकाग्रता करते–करते पर्याय शुद्ध हो जाती है। ऐसी एकाग्रता कौन करता है? जिसने पहले अरिहंत के स्वरूप के साथ मिलान करके अपने पूर्णस्वरूप को ख्याल में लिया हो, वह अशुद्धता को दूर करने के लिये शुद्ध स्वभाव की एकाग्रता का प्रयत्न करता है, किन्तु जो जीव पूर्ण शुद्धस्वरूप को नहीं जानता और पुण्य–पाप को ही अपना स्वरूप मान रहा है, वह जीव, अशुद्धता को दूर करने का प्रयत्न नहीं कर सकता, इसलिये सबसे पहले अपने शुद्धस्वभाव को पहचानना चाहिये। इस गाथा में आत्मा के शुद्धस्वभाव को पहचानने की रीति बताई गई है।

"अरिहंत का स्वरूप सर्व प्रकार स्पष्ट है, जैसी वह देशा है, वैसी ही इस आत्मा की दशा होनी चाहिये। ऐसा निश्चय किया अर्थात् यह जान लिया कि जो अरिहंतदशा में नहीं होते, वे भाव मेरे स्वरूप में नहीं हैं—और इस प्रकार विकारभाव और स्वभाव को भिन्न–भिन्न जान लिया; इस प्रकार जिसने अरिहंत का ठीक निर्णय कर लिया और यह प्रतीति कर ली कि मेरा आत्मा भी वैसा ही है, उसका दर्शनमोह नष्ट होकर उसे क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

ध्यान रहे कि यह अपूर्व बात है, इसमें मात्र अरिहंत की बात नहीं है किन्तु अपने आत्मा की एकमेक करने की बात है। अरिहंत का ज्ञान करनेवाला तो यह आत्मा है। अरिहंत की प्रतीति करनेवाला अपना ज्ञानस्वभाव है। जो अपने ज्ञानस्वभाव के द्वारा अरिहंत की प्रतीति करता है, उसे अपने आत्मा की प्रतीति अवश्य हो जाती है और फिर अपने स्वरूप की ओर एकाग्रता करते-करते केवलज्ञान हो जाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन से प्रारंभ करके केवलज्ञान प्राप्त करने तक का अप्रतिहत उपाय बता दिया गया है। ८२ वीं गाथा में कहा गया है कि समस्त तीर्थंकर इसी विधि से कर्म का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त हुये हैं और यही उपदेश दिया है। जैसे अपना मुँह देखने के लिये सामने स्वच्छ दर्पण रखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ आत्मस्वरूप को देखने के लिये अरिहंत भगवान को आदर्शरूप में (आदर्श का अर्थ दर्पण है) अपने समक्ष रखा है। तीर्थंकरों का पुरुषार्थ अप्रतिहत होता है, उनका सम्यक्त्व भी अप्रतिहत होता है, और श्रेणी भी अप्रतिहत होती है और यहाँ तीर्थंकरों के साथ मिलान करना है; इसलिये तीर्थंकरों के समान ही अप्रतिहत सम्यग्दर्शन की ही बात ली गई है। मूल सूत्र में ''मोहो खलु जदि तस्सलयं'' कहा गया है, उसी में से यह भाव निकलता है।

अरिहंत और अन्य आत्माओं के स्वभाव में निश्चय से कोई अंतर नहीं है। अरिहंत का स्वरूप अंतिम शुद्धदशारूप है, इसलिये अरिहंत का ज्ञान करने पर समस्त आत्माओं के शुद्धस्वरूप का भी ज्ञान हो जाता है। स्वभाव से सभी आत्मा अरिहंत के समान हैं परंतु पर्याय में अंतर है। यहाँ तो सभी आत्माओं को अरिहंत के समान कहा है, अभव्य को भी अलग नहीं किया। अभव्य जीव का स्वभाव और शक्ति भी अरिहंत के समान ही है। सभी आत्माओं का स्वभाव परिपूर्ण है, किन्तु अवस्था में पूर्णता प्रगट नहीं है, यह उनके पुरुषार्थ का दोष है। वह दोष पर्याय का है, स्वभाव का नहीं। यदि स्वभाव को पहिचाने तो स्वभाव के बल से पर्याय का दोष भी दूर किया जा सकता है।

भले ही जीवों की वर्तमान में अरिहंत जैसी पूर्ण दशा प्रगट न हुई हो, तथापि आत्मा के द्रव्य, गुण, पर्याय की पूर्णता का स्वरूप कैसा होता है, यह स्वयं वर्तमान निश्चित कर सकता है।

जब तक अरिहंत केवली भगवान जैसी दशा नहीं होती, तब तक आत्मा का पूर्ण स्वरूप प्रगट नहीं होता। अरिहंत के पूर्ण स्वरूप का ज्ञान करने पर सभी आत्माओं का ज्ञान हो जाता है, सभी आत्मा अपने पूर्ण स्वरूप को पहचानकर जब तक पूर्णदशा को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते, तब तक वे दुःखी रहते हैं। सभी आत्मा शक्तिस्वरूप से तो पूर्ण ही हैं किन्तु यदि

व्यक्तदशारूप में पूर्ण हों तो सुख प्रगट हो। जीवों को अपनी ही अपूर्णदशा के कारण दु:ख है, वह दु:ख दूसरे के कारण से नहीं है; इसलिये अन्य कोई व्यक्ति जीव का दु:ख दूर नहीं कर सकता, किन्तु यदि जीव स्वयं अपनी पूर्णता को पहिचाने, तभी उसका दु:ख दूर हो। इससे मैं किसी का दु:ख दूर नहीं कर सकता और अन्य कोई मेरा दु:ख दूर नहीं कर सकता—ऐसी स्वतंत्रता की प्रतीति हुई और पर का कर्तृत्व दूर करके ज्ञातारूप में रहा, यही सम्यग्दर्शन का अपूर्व पुरुषार्थ है।

पूर्ण स्वरूप के अज्ञान के कारण ही अपनी पर्याय में दु:ख है, उस दु:ख को दूर करने के लिये अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय का अपने ज्ञान के द्वारा निर्णय करना चाहिये। शरीर, मन, वाणी, पुस्तक, कर्म यह सब जड़ हैं—अचेतन हैं, वे सब आत्मा से बिल्कुल भिन्न हैं; जो राग-द्वेष होता है, वह भी वास्तव में मेरा नहीं है, क्योंकि अरिहंत भगवान की दशा में राग-द्वेष नहीं हैं। राग के आश्रय से भगवान की पूर्णदशा नहीं हुई। भगवान की पूर्णदशा कहाँ से आई? उनकी पूर्णदशा उनके द्रव्य-गुण के ही आधार से आई है। जैसे अरिहंत की पूर्णदशा उनके द्रव्य-गुण के आधार से प्रगट हुई है, वैसे ही मेरी पूर्णदशा भी मेरे द्रव्य-गुण के ही आधार से प्रगट होती है। विकल्प का या पर का आधार मेरी पर्याय के भी नहीं है। "अरिहंत जैसी पूर्णदशा मेरा स्वरूप है और अपूर्णदशा मेरा स्वरूप नहीं है"—ऐसा मैंने जो निर्णय किया है, वह निर्णयरूप दशा मेरे द्रव्य-गुण के ही आधार से हुई है। इसप्रकार जीव का लक्ष्य अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय पर से हटकर अपने द्रव्य-गुण-पर्याय की ओर जाता है और वह अपने स्वभाव को प्रतीति में लेता है। स्वभाव को प्रतीति में लेने पर स्वभाव की ओर पर्याय एकाग्र हो जाती है अर्थात् मोह को पर्याय का आधार नहीं रहता और इस प्रकार निराधार हुआ मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है।

सर्व प्रथम अरिहंत का लक्ष्य होता तो है किन्तु बाद में अरिहंत के लक्ष्य से भी हटकर स्वभाव की श्रद्धा करने पर सम्यग्दर्शन-दशा प्रगट होती है। सर्वज्ञ अरिहंत भी आत्मा हैं और मैं भी आत्मा हूँ—ऐसी प्रतीति करने के बाद अपनी पर्याय में सर्वज्ञ से जितनी अपूर्णता है, उसे दूर करने के लिये स्वभाव में एकाग्रता का प्रयत्न करता है।

अरिहंत को जानने पर जगत् के समस्त आत्माओं का निर्णय हो गया कि जगत् के जीव अपनी-अपनी पर्याय से ही सुखी-दु:खी हैं। अरिहंत प्रभु अपनी पूर्ण पर्याय से ही स्वयं सुखी हैं; इसलिये सुख के लिये उन्हें अन्न, जल, वस्त्र इत्यादि किसी पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती और जगत् के जो जीव दु:खी हैं, वे अपनी पर्याय के दोष से ही दु:खी हैं। पर्याय में मात्र रागदशा जितने

को ही अपना मान बैठे हैं और संपूर्ण स्वभाव को भूल गये हैं; इसलिये राग का ही संवेदन करके दु:खी होते हैं किन्तु किसी निमित्त के कारण से अथवा कर्मों के कारण दु:खी नहीं है, और न अन्न, वस्त्र इत्यादि के न मिलने से दु:खी हैं। दु:ख का कारण अपनी पर्याय है और दु:ख को दूर करने के लिये अरिहंत को पहचानना चाहिये। अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय को जानकर उसी के समान अपने को मानना चाहिये कि मैं मात्र रागदशावाला नहीं हूँ किन्तु मैं तो रागरहित परिपूर्ण ज्ञानस्वभाववाला हूँ। मेरे ज्ञान में दु:ख नहीं हो सकता, इस प्रकार जो अपने को द्रव्य, गुण, स्वभाव से अरिहंत के समान ही माने तो वर्तमान राग पर से अपने लक्ष्य को हटाकर द्रव्य, गुण स्वभाव पर लक्ष्य करे और अपने स्वभाव की एकाग्रता करके पर्याय के दु:ख को दूर करे। ऐसा होने से जगत् के किसी भी जीव के पराधीनता नहीं है। मैं किसी अन्य जीव का अथवा जड़-पदार्थ का कुछ भी नहीं कर सकता। संपूर्ण पदार्थ स्वतंत्र हैं, मुझे अपनी पर्याय का उपयोग अपनी ओर करना है, यही सुख का उपाय है। इसके अतिरिक्त जगत् में अन्य कोई सुख का उपाय नहीं है।

मैं देश आदि के कार्य कर डालूँ, ऐसी मान्यता भी बिल्कुल मिथ्या है। इस मान्यता में तो तीव्र आकुलता का दु:ख है। मैं जगत् के जीवों के दु:ख को दूर कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता निज को ही महान् दु:ख का कारण है। पर को दु:ख या सुख देने के लिये कोई समर्थ नहीं है। जगत् के जीवों को संयोग का दु:ख नहीं है किन्तु अपने ज्ञानादि स्वभाव की पूर्ण दशा को नहीं जाना, इसी का दु:ख है। यदि अरिहंत के आत्मा के साथ अपने आत्मा का मिलान करे तो अपना स्वतंत्र स्वभाव प्रतीति में आये। अहो! अरिहंतदेव किसी बाह्य संयोग से सुखी नहीं, किन्तु अपने ज्ञान इत्यादि की पूर्ण दशा से ही वे संपूर्ण सुखी हैं। इसलिये सुख, आत्मा का ही स्वरूप है; इस प्रकार स्वभाव को पहचानकर राग-द्वेषरहित होकर परमानंददशा को प्रगट करे। अरिहंत के वास्तविक स्वरूप को नहीं जाना, इसलिये अपने स्वरूप को भी नहीं जाना और अपने स्वरूप को ठीक-ठीक नहीं जाना, इसीलिये ही यह सब भूल होती है।

मुझे परिपूर्ण स्वतंत्र सुखदशा चाहिये है, सुख के लिये जैसी स्वतंत्र दशा होनी चाहिये, वैसी पूर्ण स्वतंत्र दशा अरिहंत के है और अरिहंत के समान ही सब का स्वभाव है; इसलिये मैं भी वैसा ही पूर्ण स्वभाववाला हूँ, इस प्रकार अपने स्वभाव की प्रतीति भी उसी के साथ मिलाकर बात की गई है। जिसने अपने ज्ञान में यह निश्चय किया, उसने सुख के लिये पराधीन दृष्टि की अनंत खदबदाहट का शमन कर दिया है। पहले अज्ञान से जहाँ-तहाँ खदबदाहट करता रहता था कि

रुपये-पैसे में से सुख प्राप्त कर लूँ, राग में से सुख ले लूँ, देव, गुरु, शास्त्र से सुख प्राप्त कर लूँ अथवा पुण्य करके सुख पा लूँ—इस प्रकार पर के लक्ष्य से सुख मानता था, वह मान्यता दूर हो गई है और मात्र अपने स्वभाव को ही सुख का साधन माना है; ऐसी समझ होने पर सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यक्त्व कैसे होता है, यह बात इस गाथा में कही गई है। भगवान अरिहंत के न तो किंचित् पुण्य है और न पाप, वे पुण्य-पाप रहित हैं, उनके ज्ञान, दर्शन, सुख में कोई कमी नहीं है; इसी प्रकार मेरे स्वरूप में भी पुण्य-पाप अथवा कोई कमी नहीं है, ऐसी प्रतीति करने पर द्रव्यदृष्टि हुई। अपूर्णता मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिये अब अपूर्ण अवस्था की ओर देखने की आवश्यकता नहीं रही किन्तु पूर्ण शुद्धदशा प्रगट करने के लिये स्वभाव में ही एकाग्रता करने की आवश्यकता रही। शुद्धदशा बाहर से प्रगट होती है या स्वभाव में से ? स्वभाव में से प्रगट होनेवाली अवस्था को प्रगट करने के लिये स्वभाव में ही एकाग्रता करनी है। इतना जान लेने पर यह धारणा दूर हो जाती है कि किसी भी अन्य पदार्थ की सहायता से मेरा कार्य होता है; और वर्तमान पर्याय में जो अपूर्णता है, वह स्वभाव की एकाग्रता के पुरुषार्थ के द्वारा पूर्ण करना है, अर्थात् मात्र ज्ञान में ही क्रिया करनी है, यहाँ प्रत्येक पर्याय में सम्यक् पुरुषार्थ का ही काम है।

किसी को यह शंका हो सकती है कि अभी तो अरिहंत नहीं हैं, तब फिर अरिहंत को जानने की बात किसलिये की गई है ? उसके समाधान के लिये कहते हैं कि—यहाँ अरिहंत की उपस्थिति की बात नहीं है किन्तु अरिहंत का स्वरूप जानने की बात है। अरिहंत की साक्षात् उपस्थिति हो, तभी उसका स्वरूप जाना जा सकता है-ऐसी बात नहीं है। अमुक क्षेत्र की अपेक्षा से अभी अरिहंत नहीं हैं किन्तु उनका अस्तित्व अन्यत्र-महाविदेहक्षेत्र इत्यादि में तो अभी भी है। अरिहंत भगवान साक्षात् अपने सन्मुख बिराजमान हों तो भी उनका स्वरूप, ज्ञान के द्वारा निश्चित होता है, वहाँ अरिहंत तो आत्मा हैं, उनका द्रव्य, गुण अथवा पर्याय दृष्टिगत नहीं होता, तथापि ज्ञान के द्वारा उनके स्वरूप का निर्णय होता है, और यदि वे दूर हों तो भी ज्ञान के द्वारा ही उनका निर्णय अवश्य होता है। जब वे साक्षात् बिराजमान होते हैं, तब भी अरिहंत का शरीर दिखाई देता है। क्या वह शरीर अरिहंत का द्रव्य, गुण, अथवा पर्याय है ? क्या दिव्यध्वनि अरिहंत का द्रव्य, गुण अथवा पर्याय है ? नहीं। यह सब तो आत्मा से भिन्न है। चैतन्यस्वरूप आत्मा, द्रव्य उसके ज्ञान दर्शनादिक, गुण और उसकी केवलज्ञानादि, पर्याय अरिहंत है। यदि उस द्रव्य, गुण, पर्याय को यथार्थतया पहचान लिया जाय तो अरिहंत के स्वरूप को जान लिया कहलायगा। साक्षात् अरिहंत प्रभु के समक्ष बैठकर उनकी स्तुति

करे परंतु यदि उनके द्रव्य, गुण, पर्याय के स्वरूप को न समझे तो वह अरिहंत के स्वरूप की स्तुति नहीं कहलायगी।

क्षेत्र की अपेक्षा से निकट में अरिहंत की उपस्थिति हो या न हो, इसके साथ कोई संबंध नहीं है किन्तु अपने ज्ञान में उनके स्वरूप का निर्णय है या नहीं, इसी के साथ संबंध है। क्षेत्रापेक्षा से निकट में ही अरिहंत भगवान बिराजमान हों परंतु उस समय यदि ज्ञान के द्वारा स्वयं उनके स्वरूप का निर्णय न करे तो उस जीव को आत्मा ज्ञात नहीं हो सकता और उसके लिये तो अरिहंत बहुत दूर हैं; और वर्तमान में क्षेत्र की अपेक्षा से अरिहंत भगवान निकट नहीं हैं, तथापि यदि अपने ज्ञान के द्वारा अभी भी अरिहंत के स्वरूप का निर्णय करे तो आत्मा की पहिचान हो और उसके लिये अरिहंत भगवान बिल्कुल निकट ही उपस्थित हैं। यहाँ क्षेत्र की अपेक्षा से नहीं किन्तु भाव की अपेक्षा से बात है। यथार्थ समझ का संबंध तो भाव के साथ है।

यहाँ यह कहा गया है कि अरिहंत कब हैं और कब नहीं? महाविदेह क्षेत्र में अथवा भरतक्षेत्र में चौथे काल में अरिहंत की साक्षात् उपस्थिति के समय भी जिन आत्माओं ने द्रव्य-गुण-पर्याय से अपने ज्ञान में अरिहंत के स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं किया, उन जीवों के लिये तो उस समय भी अरिहंत की उपस्थिति नहीं के बराबर है और भरतक्षेत्र में पंचमकाल में साक्षात् अरिहंत की अनुपस्थिति में भी जिन आत्माओं ने द्रव्य, गुण, पर्याय से अपने ज्ञान में अरिहंत के स्वरूप का निर्णय किया है, उनक लिये अरिहंत भगवान मानों साक्षात् बिराजमान हैं।

समवसरण में भी जो जीव, अरिहंत के स्वरूप का निर्णय करके आत्मस्वरूप को समझे हैं, उन जीवों के लिये ही अरिहंत भगवान निमित्त कहे गये हैं किन्तु जिनने निर्णय नहीं किया, उनके लिये तो साक्षात् अरिहंत भगवान निमित्त भी नहीं कहलाये। आज भी तो अरिहंत का निर्णय करके आत्मस्वरूप को समझते हैं, उनके लिये उनके ज्ञान में अरिहंत भगवान निमित्त कहलाते हैं।

जिसकी दृष्टि निमित्त पर है, वह क्षेत्र को देखता है कि वर्तमान में इस क्षेत्र में अरिहंत नहीं हैं। हे भाई! अरिहंत नहीं हैं किन्तु अरिहंत का निश्चय करनेवाला तेरा ज्ञान तो है! जिसकी दृष्टि उपादान पर है, वह अपने ज्ञान के बल से अरिहंत का निर्णय करके क्षेत्रभेद को दूर कर देता है। अरिहंत तो निमित्त हैं। यहाँ अरिहंत के निर्णय करनेवाले ज्ञान की महिमा है। मूल सूत्र में ''जो जाणदि'' कहा है अर्थात् जाननेवाला ज्ञान मोहक्षय का कारण है किन्तु अरिहंत तो अलग ही हैं, वे इस आत्मा का मोहक्षय नहीं करते।

समवसरण में बैठनेवाला जीव भी क्षेत्र की अपेक्षा से अरिहंत से तो दूर ही बैठता है अर्थात् क्षेत्र की अपेक्षा से तो उसके लिये भी दूर ही हैं और यहाँ भी क्षेत्र से अधिक दूर हैं किन्तु क्षेत्र की अपेक्षा से अंतर पड़ जाने से भी क्या हुआ ? जिसने भाव में अरिहंत को अपने निकट कर लिया है उसके लिये वे सदा ही निकट ही बिराजते हैं और जिसने भाव में अरिहंत को दूर किया है, उसके लिये दूर हैं। क्षेत्र की दृष्टि से निकट हों या न हों, इससे क्या होता है ? यहाँ तो भाव के साथ मेल करके निकटता करनी है। अहो ! अरिहंत के विरह को भुला दिया है, तब फिर कौन कहता है कि अभी अरिहंत भगवान नहीं हैं ?

यह पंचम काल के मुनि का कथन है, पंचम काल में मुनि हो सकते हैं। जो जीव अपने ज्ञान के द्वारा अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय को जानता है, उसका दर्शनमोह नष्ट हो जाता है। जो जीव अरिहंत के स्वरूप को भी विपरीतरूप से मानता हो और अरिहंत का यथार्थ निर्णय किये बिना उनकी पूजा-भक्ति करता हो, उसके मिथ्यात्व का नाश नहीं हो सकता। जिसने अरिहंत के स्वरूप को विपरीत माना, उसने अपने आत्मस्वरूप को भी विपरीत ही माना है और इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। यहाँ मिथ्यात्व के नाश करने का उपाय बताते हैं। जिनके मिथ्यात्व का नाश हो गया है, उन्हें समझाने के लिये यह बात नहीं है किन्तु जो मिथ्यात्व-नाश करने के लिये तैयार हुये हैं, उन जीवों के लिये यह कहा जा रहा है। वर्तमान में-इस काल में अपने पुरुषार्थ के द्वारा जीव के मिथ्यात्व का नाश हो सकता है; इसलिये यह बात कही है; अतः समझ में नहीं आता, इस धारणा को छोड़कर समझने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

यद्यपि अभी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता किन्तु यह बात यहाँ नहीं की गई है। आचार्यदेव कहते हैं कि जिसने अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय को जानकर आत्मस्वरूप का निर्णय किया है, वह जीव क्षायिक सम्यक्त्व की श्रेणी में ही बैठा है; इसलिये हम अभी से उसके दर्शनमोह का क्षय कहते हैं। भले ही अभी साक्षात् तीर्थंकर नहीं है तो भी ऐसे बलबत्तर निर्णय के भाव से कदम उठाया है कि साक्षात् अरिहंत के पास जाकर क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करके क्षायिकश्रेणी के बल से मोह का सर्वथा क्षय करके केवलज्ञान / अरिहंत दशा को प्रगट कर लेंगे। यहाँ पुरुषार्थ की ही बात है, वापिस होने की बात है ही नहीं।

अरिहंत का निर्णय करने में संपूर्ण स्वभाव प्रतीति में आ जाता है। अरिहंत भगवान के जो पूर्ण निर्मल दशा प्रगट हुई है, वह कहाँ से हुई है ? जहाँ थी, वहाँ से प्रगट हुई है या जहाँ नहीं थी,

वहाँ से प्रगट हुई है ? स्वभाव में पूर्ण शक्ति थी, इसलिये स्वभाव के बल से वह दशा प्रगट हुई है, स्वभाव तो मेरे भी परिपूर्ण है, स्वभाव में कचाई नहीं है। बस ! इस यथार्थ प्रतीति में द्रव्य-गुण की प्रतीति हो गई और द्रव्य-गुण की ओर पर्याय झुकी तथा आत्मा के स्वभाव-सामर्थ्य की दृष्टि हुई एवं विकल्प की अथवा पर की दृष्टि हट गई। इस प्रकार इसी उपाय से सभी आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय पर दृष्टि करके क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं और इसी प्रकार सभी आत्माओं का ज्ञान होता है; सम्यक्त्व का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

अनंत आत्माऐं हैं, उनमें अल्प काल में मोक्ष जानेवाले या अधिक काल के पश्चात् मोक्ष जानेवाले सभी आत्मा इसी विधि से कर्मक्षय करते हैं। पूर्ण दशा अपनी विद्यमान निज शक्ति में से आती है और शक्ति की दृष्टि करने पर, पर का लक्ष्य टूटकर स्व में एकाग्रता का ही भाव रहने पर क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

यहाँ धर्म करने की बात है। कोई आत्मा, परद्रव्य का तो कुछ कर ही नहीं सकता। जैसे अरिहंत भगवान सब कुछ जानते हैं परंतु परद्रव्य का कुछ भी नहीं करते। इसी प्रकार यह आत्मा भी ज्ञातास्वरूप है, ज्ञानस्वभाव की प्रतीति ही मोक्षक्षय का कारण है। क्षणिक विकारी पर्याय में राग का कर्तव्य माने तो समझना चाहिये कि उस जीव ने अरिहंत के स्वरूप को नहीं माना। ज्ञान में अनंत परद्रव्य का कर्तृत्व मानना ही महा अधर्म है और ज्ञान में अरिहंत का निर्णय किया कि अनंत परद्रव्य का कर्तृत्व हट गया, यही धर्म है। ज्ञान में से पर का कर्तृत्व हट गया, इसलिये अब ज्ञान में ही स्थिर होना होता है और पर के लक्ष्य से जो विकार भाव होता है, उसका कर्तृत्व भी नहीं रहता। मात्र ज्ञातारूप से रहता है, यही मोहक्षय का उपाय है। जिसने अरिहंत के स्वरूप को जाना, वह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है और वही जैन है। जैसा जिनेन्द्र अरिहंत का स्वभाव है, वैसा ही अपना स्वभाव है—ऐसा निर्णय करना, सो जैनत्व है और फिर स्वभाव के पुरुषार्थ के द्वारा वैसी पूर्ण दशा प्रगट करना, सो जिनत्व है। अपना निज स्वभाव जाने बिना जैनत्व नहीं हो सकता।

जिसने अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय को जान लिया, उसने यह निश्चय कर लिया है कि मैं अपने द्रव्य, गुण, पर्याय की एकता के द्वारा राग के कारण से जो पर्याय की अनेकता होती है उसे दूर करूँगा, तभी मुझे सुख होगा। इतना निश्चय किया कि उसकी यह सब विपरीत मान्यतायें छूट जाती हैं कि मैं पर का कुछ कर सकता हूँ अथवा विकार से धर्म होता है। अब स्वभाव के बल से स्वभाव में एकाग्रता करके स्थिर होना होता है, तब फिर उसके मोह कहाँ रह सकता है ? मोह का

क्षय हो ही जाता है। मेरे आत्मा में स्वभाव के लक्ष्य से जो निर्मलता का अंश प्रगट हुआ है, वह निर्मलदशा बढ़ते-बढ़ते किस हद तक निर्मलरूप में प्रगट होती है? जो अरिहंत के बराबर निर्मलता प्रगट होती है, वह मेरा स्वरूप है, यदि यह जान ले तो अशुद्धभावों से अपना स्वरूप भिन्न है—ऐसी शुद्धस्वभाव की प्रतीति करके दर्शनमोह का उसी समय क्षय कर दे अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि हो जाय, इसलिये अरिहंत भगवान के स्वरूप का द्रव्य, गुण, पर्याय के द्वारा यथार्थ निर्णय करने पर, आत्मा की प्रतीति होती है और यही मोहक्षय का उपाय है।

—इसके बाद—

अब आगे द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप बताया जायगा और यह बताया जायगा कि द्रव्य, गुण, पर्याय को किस प्रकार जानने से मोह क्षय होता है।

अरिहंत सब जयवन्त हों

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी का प्रवचन

[श्री प्रवचनसारजी गाथा ८०]

[जो जीव, अरिहंत को द्रव्य, गुण, पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। अरिहंत का स्वरूप सर्व प्रकार शुद्ध है; इसलिये शुद्ध आत्मस्वरूप के प्रतिबिम्ब के समान श्री अरिहंत का आत्मा है। अरिहंत जैसा ही इस आत्मा का शुद्धस्वभाव स्थापित करके, उसे जानने की बात कही है। यहाँ मात्र अरिहंत की ही बात नहीं है किन्तु अपने आत्मा की प्रतीति करके उसे जानना है, क्योंकि अरिहंत में और इस आत्मा में निश्चय से कोई अंतर नहीं है। जो जीव अपने ज्ञान में अरिहंत का निर्णय करता है, उस जीव के भाव में अरिहंत भगवान साक्षात् बिराजमान रहते हैं, उसे अरिहंत का विरह नहीं होता। इस प्रकार अपने ज्ञान में अरिहंत की यथार्थ प्रतीति करने पर, अपने आत्मा की प्रतीति होती है और उसका मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है। यह पहिले कहे गये कथन का सार है। अब द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप विशेषरूप से बताते हैं, उसे जानने के बाद अन्तरंग में किस प्रकार की क्रिया करने से मोह क्षय को प्राप्त होता है, यह बताते हैं।]

जो जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा आत्मा को जानता है, उस जीव का मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है–ऐसा कहा है, किन्तु यह नहीं कहा कि मोहकर्म का बल कम हो तो आत्मा को जानने का पुरुषार्थ प्रगट हो सकता है, क्योंकि मोहकर्म कहीं आत्मा को पुरुषार्थ करने से नहीं रोकता। जब जीव अपने ज्ञान में सच्चा पुरुषार्थ करता है, तब मोह अवश्य क्षय को प्राप्त हो जाता है। जीव का पुरुषार्थ स्वतंत्र है, 'पहिले तू ज्ञान कर तो मोह क्षय को प्राप्त हो' इसमें उपादान से कार्य का होना सिद्ध किया है किन्तु 'पहिले मोह क्षय हो तो तुझे आत्मा का ज्ञान प्रगट हो' इस प्रकार निमित्त की ओर से विपरीत को नहीं लिया है, क्योंकि निमित्त को लेकर जीव में कुछ भी नहीं होता।

अब यह बतलाते हैं कि अरिहंत भगवान के स्वरूप में द्रव्य–गुण–पर्याय किस प्रकार हैं। ''वहाँ अन्वय द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है, अन्वय के व्यतिरेक (भेद) पर्याय हैं'' [गाथा ८० टीका] शरीर अरिहंत नहीं है किन्तु द्रव्य–गुण–पर्यायस्वरूप आत्मा अरिहंत है। अनन्त अरिहंत और अनन्त आत्माओं का द्रव्य–गुण–पर्याय से क्या स्वरूप है–यह इसमें बताया है।

द्रव्य

यहाँ मुख्यता से अरिहन्त भगवान के द्रव्य–गुण–पर्याय की बात है। अरिहन्त भगवान के स्वरूप में जो अन्वय है, सो द्रव्य है। 'जो अन्वय है, सो द्रव्य है' इसका क्या अर्थ है? जो अवस्था बदलती है, वह कुछ स्थिर रहकर बदलती है। जैसे पानी में लहरें उठती हैं, वे पानी और शीतलता को स्थिर रखकर उठती है, पानी के बिना यों ही लहरें नहीं उठने लगती; इसीप्रकार आत्मा में पर्यायरूपी लहरें (भाव) बदलती रहती हैं, उसके बदलने पर एक–एक भाव के बराबर आत्मा नहीं है किन्तु सभी भावों में लगातार स्थिर रहनेवाला आत्मा है। त्रिकाल स्थिर रहनेवाले आत्मद्रव्य के आधार से पर्यायें परिणमित होती हैं। जो पहिले और बाद के सभी परिणामों में स्थिर बना रहता है, वह द्रव्य है। परिणाम तो प्रति समय एक के बाद एक नये–नये होते हैं। सभी परिणामों में लगातार एक सा रहनेवाला द्रव्य है। पहिले भी वही था और बाद में भी वही है—इसप्रकार पहिले और बाद का जो एकत्व है, सो अन्वय है, और जो अन्वय है, सो द्रव्य है।

अरिहंत के सम्बन्ध में–पहले अज्ञानदशा थी, फिर अज्ञानदशा प्रकट हुई, इस अज्ञान और ज्ञान दोनों दशाओं में स्थिररूप में विद्यमान है, वह आत्मद्रव्य है। जो आत्मा पहिले अज्ञानरूप था, वही अब ज्ञानरूप है। इस प्रकार पहिले और बाद के जोड़रूप जो पदार्थ है, वह द्रव्य है। पर्याय पहिले और पश्चात् की जोड़रूप नहीं होती, वह तो पहिले और बाद की अलग–अलग

(व्यतिरेकरूप) होती है और द्रव्य पूर्व-पश्चात् के सम्बन्धरूप (अन्वयरूप) होता है। जो एक अवस्था है, वह दूसरी नहीं होती और जो दूसरी अवस्था है, वह तीसरी नहीं होती; इस प्रकार अवस्था में प्रथक्त्व है, किन्तु जो द्रव्य पहिले समय में था, वही दूसरे समय में है और जो दूसरे समय में था, वही तीसरे समय में है; इस प्रकार द्रव्य में लगातार सादृश्य है।

जैसे सोने की अवस्था की रचनाएं अनेक प्रकार की होती हैं, उसमें अंगूठी के आकार के समय कुण्डल नहीं होता और कुण्डलरूप आकार के समय कड़ा नहीं होता, इसप्रकार प्रत्येक पर्याय के रूप में प्रथक्त्व है, किन्तु जो सोना अंगूठी के रूप में था, वही सोना कुण्डल के रूप में है और जो कुण्डल के रूप में था, वही कड़े के रूप में है—सभी प्रकारों में सोना तो एक ही है, किस आकार-प्रकार में सोना नहीं है ? सभी अवस्थाओं के समय सोना है। इसीप्रकार अज्ञानदशा के समय साधकदशा नहीं होती, साधकदशा के समय साध्यदशा नहीं होती-इसप्रकार प्रत्येक पर्याय का प्रथक्त्व है। किन्तु जो आत्मा अज्ञानदशा में था, वही साधकदशा में है। सभी अवस्थाओं में आत्मद्रव्य तो एक ही है। किस अवस्था में आत्मा नहीं है ? सभी अवस्थाओं में निरन्तर साथ रहकर गमन करनेवाला आत्म द्रव्य है।

पहिले और पश्चात् जो स्थिर रहता है, वह द्रव्य है। अरिहंत भगवान का आत्मा स्वयं ही पहिले अज्ञानदशा में था और अब वही सम्पूर्ण ज्ञानमय अरिहंतदशा में भी है। इस प्रकार अरिहंत के आत्मद्रव्य को पहचानना चाहिए। यह पहचान करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि अभी अपूर्ण दशा होने पर भी मैं ही पूर्ण अरिहंतदशा में भी स्थिर होऊंगा, इससे आत्मा की त्रैकालिकता लक्ष्य में आती है।

गुण

'अन्वय का जो विशेषण है सो गुण है' पहिले द्रव्य की व्याख्या [परिभाषा] की; अब गुण की परिभाषा करते हैं। कड़ा, कुण्डल और अंगूठी इत्यादि सभी अवस्थाओं में रहनेवाला सोना द्रव्य है—यह तो कहा है परन्तु यह भी जान लेना चाहिये कि सोना कैसा है। सोना पीला है, भारी है, चिकना है—इसप्रकार पीलापन, भारीपन और चिकनापन यह विशेषण सोने के लिए लागू किये गये हैं, इसलिये वह पीलापन आदि सोने का गुण है; इसीप्रकार अरिहंत की पहिले की और बाद की अवस्था में जो स्थिर रहता है, वह आत्मद्रव्य है—यह कहा है, परन्तु यह भी जान लेना चाहिए कि आत्मद्रव्य कैसा है ? आत्मा ज्ञानरूप है, दर्शनरूप है, चारित्ररूप है, इस प्रकार आत्मद्रव्य के

लिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र विशेषण लागू होते हैं, इसलिए ज्ञान आदिक आत्मद्रव्य के गुण हैं। द्रव्य की शक्ति को गुण कहा जाता है। आत्मा चेतन द्रव्य है और चैतन्य उसका विशेषण है। परमाणु में जो पुद्गल है, सो द्रव्य है और वर्ण, गंध, इत्यादि उसके विशेषण-गुण हैं। वस्तु में कोई विशेषण तो होता ही है; जैसे मिठास गुड़ का विशेषण है। इसी प्रकार आत्मद्रव्य का विशेषण क्या है? अरिहंत भगवान आत्मद्रव्य किस प्रकार हैं, यह पहिले कहा जा चुका है। अरिहंत में किंचित्मात्र भी राग नहीं है और परिपूर्ण ज्ञान है अर्थात् ज्ञान आत्मद्रव्य का विशेषण है।

यहाँ मुख्यता से ज्ञान की बात कही है, इसी प्रकार दर्शन, चारित्र, वीर्य, अस्तित्व इत्यादि जो अनन्त गुण हैं, वे सब आत्मा के विशेषण हैं। अरिहंत आत्मद्रव्य हैं और उस आत्मा में अनन्त सहवर्ती गुण हैं, वैसा ही मैं भी आत्मद्रव्य हूँ और मुझमें वे सब गुण विद्यमान हैं। इस प्रकार जो अरिहंत के आत्मा को द्रव्य, गुणरूप में जानता है, वह अपने आत्मा को भी द्रव्य, गुणरूप में जानता है। वह स्वयं समझता है कि द्रव्य, गुण के जान लेने पर अब पर्याय में क्या करना चाहिये, और इसलिये उसके धर्म होता है। द्रव्य, गुण तो जैसे अरिहंत के हैं, वैसे ही सभी आत्माओं के सदा एक रूप हैं। द्रव्य, गुण में कोई अन्तर नहीं है; अवस्था में संसार और मोक्ष है। द्रव्य, गुण में से पर्याय प्रगट होती है, इसलिये अपने द्रव्य, गुण को पहिचानकर उस द्रव्य, गुण में से पर्याय का जैसा आकार-प्रकार स्वयं बनाता है, वैसा ही कर सकता है।

इस प्रकार द्रव्यरूप से और गुणरूप से आत्मा की पहिचान कराई है। इसमें जो गुण है, सो वह द्रव्य की ही पहिचान करानेवाला है।

पर्याय

'अन्वय के व्यतिरेक को पर्याय कहते हैं'—इसमें पर्यायों की परिभाषा बताई है। द्रव्य के जो भेद हैं, सो पर्याय हैं। द्रव्य तो त्रिकाल है, उस द्रव्य को क्षण-क्षण के भेद से (क्षणवर्ती अवस्था से) लक्ष में लेना, सो पर्याय है। पर्याय का स्वभाव व्यतिरेकरूप है अर्थात् एक पर्याय के समय दूसरी पर्याय नहीं होती। गुण और द्रव्य सदा एक साथ होते हैं किन्तु पर्याय एक के बाद दूसरी होती है। अरिहंत भगवान के केवलज्ञान पर्याय है, तब उनके पूर्व की अपूर्ण ज्ञानदशा नहीं होती। वस्तु के जो एक-एक समय के भिन्न-भिन्न भेद हैं, सो पर्याय है। कोई भी वस्तु पर्याय के बिना नहीं हो सकती।

आत्मद्रव्य स्थिर रहता है और उसकी पर्याय बदलती रहती है। द्रव्य और गुण एकरूप है,

उनमें भेद नहीं है किन्तु पर्याय में अनेक प्रकार से परिवर्तन होता है, इसलिये पर्याय में भेद है। पहिले द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप भिन्न-भिन्न बताकर, फिर तीनों को अभेद द्रव्य में समाविष्ट कर दिया है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय की परिभाषा पूर्ण हुई।

प्रारम्भिक कर्तव्य

अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय को भलीभाँति जान लेना ही धर्म है। अरिहंत भगवान के द्रव्य, गुण, पर्याय को जाननेवाला जीव अपने आत्मा को भी जानता है। इसे जाने बिना दया, भक्ति, पूजा, तप, व्रत, ब्रह्मचर्य या शास्त्राभ्यास इत्यादि सब कुछ करने पर भी धर्म नहीं होता, और मोह दूर नहीं होता। इसलिए पहिले अपने ज्ञान के द्वारा अरिहंत भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय का निर्णय करना चाहिए, यही धर्म करने के लिए प्रारम्भिक कर्तव्य है।

पहिले द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप बताया है। अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाननेवाला जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्यायमय आत्मा को जान लेता है-यह बात अब यहाँ कही जाती है।

''सर्वत: विशुद्ध भगवान अरिहंत में (अरिहंत के स्वरूप को ध्यान में रखकर) जीव तीनों प्रकार के समय को (द्रव्य गुण पर्यायमय निज आत्मा को) अपने मन के द्वारा जान लेता है''। [गाथा ८० की टीका]

अरिहंत भगवान का स्वरूप सर्वत: विशुद्ध है अर्थात् वे द्रव्य से, गुण से और पर्याय से सम्पूर्ण शुद्ध हैं; इसलिए द्रव्य-गुण-पर्याय से उनके स्वरूप को जानने पर उस जीव के ख्याल में यह आ जाता है कि अपना स्वरूप द्रव्य से, गुण से, पर्याय से कैसा है।

इस आत्मा का और अरिहंत का स्वरूप परमार्थत: समान है, इसलिए जो अरिहंत के स्वरूप को जानता है, वह अपने स्वरूप को जानता है और जो अपने स्वरूप को जानता है, उसके मोह का क्षय हो जाता है।

सम्यक्त्व सन्मुख दशा

जिसने अपने ज्ञान के द्वारा अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को लक्ष में लिया है, उस जीव को अरिहंत का विचार करने पर परमार्थ से अपना ही विचार आता है। अरिहंत के द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और उनकी अवस्था सम्पूर्ण ज्ञानमय है, सम्पूर्ण विकार रहित है, ऐसा निर्णय करने पर यह प्रतीत

होती है कि अपने द्रव्य-गुण पूर्ण हैं और अवस्था सम्पूर्ण ज्ञानरूप, विकार रहित होनी चाहिए।

जैसे भगवान अरिहंत हैं, वैसा ही मैं हूँ; इस प्रकार अरिहंत को जानने पर, स्वसमय को मन के द्वारा जीव जान लेता है। यहाँ तक अभी अरिहंत के स्वरूप के साथ अपने स्वरूप की समानता करता है अर्थात् अरिहंत के लक्ष से अपने आत्मा के स्वरूप का निश्चय करना प्रारम्भ करता है। यहाँ पर लक्ष से निर्णय होने के कारण यह कहा है कि मन के द्वारा अपने आत्मा को जान लेता है। यद्यपि यहाँ विकल्प है, तथापि विकल्प के द्वारा जो निर्णय कर लिया है, उस निर्णयरूप ज्ञान में से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। मन के द्वारा विकल्प से ज्ञान किया है, तथापि निर्णय के बल से ज्ञान में से विकल्प को अलग करके स्वलक्ष से ठीक समझकर मोह का क्षय अवश्य करेगा— ऐसी शैली है। जिसने मन के द्वारा आत्मा का निर्णय किया है, उसकी सम्यक्त्व के सन्मुख दशा हो चुकी है।

अरिहंत के साथ समानता

अब यह बतलाते हैं कि अरिहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जाननेवाला जीव, द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप अपने आत्मा को किस प्रकार जान लेता है ? अरिहंत को जाननेवाला जीव अपने ज्ञान में अपने द्रव्य-गुण-पर्याय का इसप्रकार विचार करता है—

''यह चेतन है, ऐसा जो अन्वय सो द्रव्य है, अन्वय के आश्रित रहनेवाला जो 'चैतन्य' विशेषण है, सो गुण है और एक समय की मर्यादावाला जिसका काल परिमाण होने से परस्पर अप्रवृत्त जो अन्वय व्यतिरेक हैं [एक दूसरे में प्रवृत्त न होनेवाले जो अन्वय के व्यतिरेक हैं] सो पर्याय हैं, जो कि चिद् विवर्तन की [आत्मा के परिणमन की] ग्रन्थियाँ हैं। [गाथा ८० की टीका]

पहिले अरिहंत भगवान को सामान्यतया जानकर, अब उनके स्वरूप को लक्ष में रखकर द्रव्य-गुण-पर्याय से विशेषरूप में विचार करते हैं। ''यह अरिहंत आत्मा है'' इस प्रकार द्रव्य को जान लिया। ज्ञान को धारण करनेवाला जो सदा रहनेवाला द्रव्य है, सो वही आत्मा है। इस प्रकार अरिहंत के साथ आत्मा की सदृश्यता बताई है।

चेतन द्रव्य आत्मा है, आत्मा चैतन्यस्वरूप है। चैतन्यगुण, आत्मद्रव्य के आश्रित हैं, सदा स्थिर रहनेवाले आत्मद्रव्य के आश्रय से ज्ञान रहता है, द्रव्य के आश्रय से रहनेवाला होने से ज्ञान गुण है। अरिहंत के गुण को देखकर यह निश्चय करता है कि स्वयं अपने आत्मा के गुण कैसे हैं। जैसा अरिहंत का स्वभाव है, वैसा ही मेरा स्वभाव है।

द्रव्य-गुण त्रैकालिक हैं, उसके प्रतिक्षणवर्ती जो भेद हैं, सो पर्याय है। पर्याय की मर्यादा एक समयमात्र की है। एक ही समय की मर्यादा होती है, इसलिये दो पर्याय कभी एकत्रित नहीं होती। पर्यायें एक-दूसरे में अप्रवृत्त हैं, एक पर्याय दूसरी पर्याय में नहीं आती; इसलिये पहली पर्याय के विकाररूप होने पर भी, मैं अपने स्वभाव से दूसरी पर्याय को निर्विकार कर सकता हूँ। इसका अर्थ यह है कि विकार एक समयमात्र के लिये है और विकाररहित स्वभाव त्रिकाल है। पर्याय एक समयमात्र के लिये ही होती है, यह जान लेने पर यह प्रतीत हो जाती है कि विकार क्षणिक है। इस प्रकार अरिहंत के साथ समानता करके अपने स्वरूप में उसे मिलाता है।

चेतन की एक समयवर्ती पर्यायें ज्ञान की ही गाँठें हैं। पर्याय का सम्बन्ध चेतन के साथ है। वास्तव में राग, चेतन की पर्याय नहीं है क्योंकि अरिहंत की पर्याय में राग नहीं है। जितना अरिहंत की पर्याय में होता है, उतना ही इस आत्मा की पर्याय का स्वरूप है।

पर्याय प्रति समय की मर्यादावाली है। एक पर्याय का दूसरे समय में नाश हो जाता है; इसलिये एक अवस्था में से दूसरी अवस्था नहीं आती, किन्तु द्रव्य में से ही पर्याय आती है, इसलिये पहिले द्रव्य का स्वरूप बताया है। पर्याय में जो विकार है, सो स्वरूप नहीं है किन्तु गुण जैसी ही निर्विकार अवस्था होनी चाहिए; इसलिए बाद में गुण का स्वरूप बताया है। राग अथवा विकल्प में से पर्याय प्रगट नहीं होती क्योंकि पर्यायें एक दूसरे में प्रवृत्त नहीं होती। पर्याय को चिद्विवर्तन की ग्रन्थी क्यों कहा है ? पर्याय स्वयं तो एक समय मात्र के लिए है परन्तु एक समय की पर्याय से त्रैकालिक द्रव्य को जानने की शक्ति है। एक ही समय की पर्याय में त्रैकालिक द्रव्य का निर्णय समाविष्ट हो जाता है। पर्याय की ऐसी शक्ति बताने के लिए उसे चिद् विवर्तन की ग्रन्थी कहा है।

अरिहंत के केवलज्ञान दशा होती है। जो केवलज्ञान दशा है, सो चिद् विवर्तन की वास्तविक ग्रन्थी है। जो अपूर्ण ज्ञान है, सो स्वरूप नहीं है। केवलज्ञान होने पर एक ही पर्याय में लोकालोक का ज्ञान समाविष्ट हो जाता है, मति-श्रुत पर्याय में भी अनेकानेक भावों का निर्णय समाविष्ट हो जाता है।

यद्यपि पर्याय स्वयं एक समय की है, तथापि उस एक समय में सर्वज्ञ के परिपूर्ण द्रव्य-गुण-पर्याय को अपने ज्ञान में समाविष्ट कर लेती है। सम्पूर्ण अरिहंत का निर्णय एक समय में कर लेने से पर्याय, चैतन्य की गाँठ है।

अरिहंत की पर्याय सर्वतः सर्वथा शुद्ध है। यह शुद्धपर्याय जब ख्याल में ली, तब उस समय

निज के वैसी पर्याय वर्तमान में नहीं है, तथापि यह निर्णय होता है कि—मेरी अवस्था का स्वरूप अनन्त ज्ञानशक्तिरूप सम्पूर्ण है; रागादिक मेरी पर्याय का मूल स्वरूप नहीं है।

इस प्रकार अरिहंत के लक्ष से द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप अपने आत्मा को शुभविकल्प के द्वारा जाना है। इस प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप को एक ही साथ जान लेनेवाला जीव बाद में क्या करता है और उसका मोह कब नष्ट होता है-यह अब कहते हैं।

''अब इस प्रकार.... अवश्यमेव प्रलय को प्राप्त होता है'' [गाथा ८० की टीका]

द्रव्य-गुण-पर्याय का यथार्थ स्वरूप जान लेने पर, जीव त्रैकालिक द्रव्य को एक काल में निश्चित कर लेता है। आत्मा के त्रैकालिक होने पर भी, जीव उसके त्रैकालिक स्वरूप को एक ही काल में समझ लेता है। अरिहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जान लेने पर, अपने में क्या फल प्रगट हुआ है-यह बतलाते हैं। वह त्रैकालिक पदार्थ को इस प्रकार लक्ष में लेता है कि जैसे अरिहंत भगवान त्रिकाली आत्मा हैं, वैसा ही मैं त्रिकाली आत्मा हूँ। त्रिकाली पदार्थ को जान लेने में त्रिकाल जितना समय नहीं लगता, किन्तु वर्तमान एक पर्याय के द्वारा त्रैकालिक का ख्याल हो जाता है—उसका अनुमान हो जाता है। क्षायिक सम्यक्त क्यों कर होता है ? इसकी यह बात है। प्रारंभिक क्रिया यही है। इसी क्रिया के द्वारा मोह क्षय होता है।

जीव को सुख चाहिये है। इस जगत में सम्पूर्ण स्वाधीन सुखी श्री अरिहंत भगवान हैं। इसलिये 'सुख चाहिये है' का अर्थ यह हुआ कि स्वयं भी अरिहंत दशारूप होना है। जिसने अपने आत्मा को अरिहन्त जैसा माना है, वही स्वयं अरिहंत जैसी दशा होने की भावना करता है। जिसने अपने को अरिहंत जैसा माना है, उसने अरिहंत के समान द्रव्य-गुण-पर्याय के अतिरिक्त अन्य सब अपने आत्मा में से निकाल दिया है। (यहाँ पहले मान्यता-श्रद्धा करने की बात है)। परद्रव्य का कुछ करने की मान्यता, शुभराग से धर्म होने की मान्यता तथा निमित्त से हानि-लाभ होने की मान्यता दूर हो गई है, क्योंकि अरिहंत के आत्मा के यह सब कुछ नहीं है।

द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानने के बाद क्या करना चाहिए ?

अरिहंत के स्वरूप को द्रव्य-गुण-पर्यायरूप से जाननेवाला, जीव त्रैकालिक आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय रूप से एक क्षण में समझ लेता है। बस ! यहाँ आत्मा को समझ लेने तक की बात की है, वहाँ तक विकल्प है, विकल्प के द्वारा आत्मलक्ष किया है। अब उस विकल्प को तोड़कर द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद को छोड़कर अभेद आत्मा का लक्ष करने की बात करते हैं। इस अभेद का

लक्ष करना ही अरिहंत को जानने का सच्चा फल है और जब अभेद का लक्ष करता है, तब उसी क्षण मोह का क्षय हो जाता है।

जिस अवस्था के द्वारा अरिहंत को जानकर त्रैकालिक द्रव्य का ख्याल किया, उस अवस्था में जो विकल्प होता है, वह अपना स्वरूप नहीं है, किन्तु जो ख्याल किया है, वह अपना स्वभाव है। ख्याल करनेवाला जो ज्ञान है, वह सम्यक्ज्ञान की जाति का है, किन्तु अभी परलक्ष है, इसलिए यहाँ तक सम्यक्दर्शन प्रगटरूप नहीं है। अब उस अवस्था को परलक्ष से हटाकर स्वभाव में संकलित करता है—भेद का लक्ष छोड़कर अभेद के लक्ष से सम्यक्दर्शन को प्रगटरूप करता है। जैसे मोती का हार झूल रहा हो तो उस झूलते हुये हार को लक्ष में लेने पर उसके पहिले से अन्त तक के सभी मोती उस हार में ही समाविष्ट हो जाते हैं और हार तथा मोतियों का भेद लक्ष में नहीं आता। यद्यपि प्रत्येक मोती प्रथक-प्रथक है किन्तु जब हार को देखते हैं, तब एक-एक मोती का लक्ष छूट जाता है परन्तु पहिले हार का स्वरूप जानना चाहिए कि हार में अनेक मोती हैं और हार सफेद है, इस प्रकार पहिले हार, हार का रंग और मोती इन तीनों का स्वरूप जाना हो तो उन तीनों को झूलते हुए हार में समाविष्ट करके, हार को एकरूप से लक्ष में लिया जा सकता है। मोतियों का जो लगातार तारतम्य है, सो हार है। प्रत्येक मोती उस हार का विशेष है और उन विशेषों को यदि एक सामान्य में संकलित किया जाय तो हार लक्ष में आता है। हार की तरह आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्यायों को जानकर पश्चात् समस्त पर्यायों को और गुणों को एक चैतन्यद्रव्य में ही अन्तर्गत करने पर, द्रव्य का लक्ष होता है और उसी क्षण सम्यक्दर्शन प्रगट होकर मोह का क्षय हो जाता है।

यहाँ झूलता हुआ अथवा लटकता हुआ हार इसलिए लिया है कि वस्तु कूटस्थ नहीं है किन्तु प्रति समय झूल रही है अर्थात् प्रत्येक पर्याय में द्रव्य में परिणमन हो रहा है। जैसे हार के लक्ष से मोती का लक्ष छूट जाता है; उसी प्रकार द्रव्य के लक्ष से पर्याय का लक्ष छूट जाता है। पर्यायों में बदलनेवाला तो एक आत्मा है; बदलनेवाले के लक्ष से समस्त परिणामों को उसमें अंतर्गत किया जाता है। पर्याय की दृष्टि से प्रत्येक पर्याय भिन्न-भिन्न है किन्तु जब द्रव्य की दृष्टि से देखते हैं, तब समस्त पर्यायें उसमें अन्तर्गत हो जाती हैं। इस प्रकार आत्मद्रव्य को ख्याल में लेना ही सम्यग्दर्शन है।

प्रथम आत्मद्रव्य के गुण और आत्मा की अनादि-अनन्त काल की पर्याय, इन तीनों का वास्तविक स्वरूप (अरिहंत के स्वरूप के साथ सादृश्य करके) निश्चित् किया हो तो फिर उन

द्रव्य, गुण, पर्याय को एक परिणमित होते हुए द्रव्य में समाविष्ट करके द्रव्य को अभेदरूप से लक्ष में लिया जा सकता है। पहिले सामान्य-विशेष (द्रव्य-पर्याय) को जानकर, फिर विशेषों को सामान्य में अंतर्गत किया जाता है; किन्तु जिसने सामान्य-विशेष का स्वरूप न जाना हो, वह विशेष को सामान्य में अन्तर्लीन कैसे करे ?

पहिले अरिहंत जैसे द्रव्य, गुण, पर्याय से अपने आत्मा को लक्ष में लेकर, पश्चात् जिस जीव ने गुण-पर्यायों को एक द्रव्य में संकलित किया है, उसे आत्मा को स्वभाव में धारण कर रखा है। जहाँ आत्मा को स्वभाव में धारण किया, वहाँ मोह को रहने का स्थान नहीं रहता अर्थात् मोह निराश्रयता के कारण उसी क्षण क्षय को प्राप्त होता है। पहिले अज्ञान के कारण द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद करता था, इसलिये उन भेदों के आश्रय से मोह रह रहा था किन्तु जहाँ द्रव्य, गुण, पर्याय को अभेद किया, वहाँ द्रव्य, गुण, पर्याय का भेद दूर हो जाने से मोह क्षय को प्राप्त होता है। द्रव्य, गुण, पर्याय की एकता ही धर्म है और द्रव्य, गुण, पर्याय के बीच भेद ही अधर्म है।

प्रथक-प्रथक् मोती विस्तार है क्योंकि उनमें अनेकत्व है और सभी मोतियों के अभेद रूप में जो एक हार है सो संक्षेप है। जैसे पर्याय के विस्तार को द्रव्य में संकलित कर दिया, उसी प्रकार विशेष्य-विशेषणपन की वासना को भी दूर करके-गुण को भी द्रव्य में ही अन्तर्हित करके मात्र आत्मा को ही जानना और इस प्रकार आत्मा को जानने पर, मोह का क्षय हो जाता है। पहिले यह कहा था कि 'मन के द्वारा जान लेता है' किन्तु वह जानना विकल्प सहित था; और यहाँ जो जानने की बात कही है, वह विकल्प रहित अभेद का जानना है। इस जानने के समय परलक्ष तथा द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद का लक्ष छूट चुका है।

यहाँ (मूल टीका में) द्रव्य, गुण, पर्याय को अभेद करने से संबन्धित पर्याय और गुण के क्रम से बात की है। पहिले कहा है कि 'चिदविवर्तों को चेतन में ही संक्षिप्त करके' और फिर कहा है कि 'चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके'। यहाँ पर पहिले कथन में पर्याय को द्रव्य के साथ अभेद करने की बात है और दूसरे में गुण को द्रव्य के साथ अभेद करने की बात है। इस प्रकार पर्याय को और गुण को द्रव्य में अभेद करने की बात क्रम से समझाई है; किन्तु अभेद का लक्ष करने पर वे क्रम नहीं होते। जिस समय अभेद द्रव्य की ओर ज्ञान झुकता है, उसी समय पर्याय भेद और गुण भेद का लक्ष एक साथ दूर हो जाता है; समझाने में तो क्रम से ही बात आती है।

जैसे झूलते हुए हार को लक्ष में लेते समय ऐसा विकल्प नहीं होता कि 'यह हार सफेद है'

अर्थात् उसकी सफेदी को झूलते हुए हार में ही अलोप कर दिया जाता है, इसी प्रकार आत्मद्रव्य में 'यह आत्मा और ज्ञान उसका गुण अथवा आत्मा ज्ञानस्वभावी है' ऐसे गुण-गुणी भेद की कल्पना दूर करके गुण को द्रव्य में ही अदृश्य करना चाहिए। मात्र आत्मा को लक्ष में लेने पर, ज्ञान और आत्मा के भेद सम्बन्धी विचार अलोप हो जाते हैं; गुण-गुणी भेद का विकल्प टूट कर एकाकार चैतन्यस्वरूप का अनुभव होता है। यही सम्यग्दर्शन है।

हार में पहिले तो मोती की कीमत, उसकी चमक और हार की गुथाई को जानता है; पश्चात् मोती का लक्ष छोड़कर 'यह हार सफेद है' इस प्रकार गुण-गुणी के भेद से हार को लक्ष में लेता है और फिर मोती, उसकी सफेदी और हार इन तीनों के सम्बन्ध के विकल्प छूटकर—मोती और उसकी सफेदी को हार में ही अदृश्य करके मात्र हार का ही अनुभव किया जाता है; इसी प्रकार पहिले अरिहंत का निर्णय करके द्रव्य, गुण, पर्याय के स्वरूप को जाने कि ऐसी पर्याय मेरा स्वरूप है, ऐसे मेरे गुण हैं और मैं अरिहंत जैसा ही आत्मा हूँ। इस प्रकार विकल्प के द्वारा जानने के बाद पर्यायों के अनेक भेद का लक्ष छोड़कर ''मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ'' इस प्रकार गुण-गुणी भेद के द्वारा आत्मा को लक्ष में ले और फिर द्रव्य, गुण, अथवा पर्याय संबंधी विकल्पों को छोड़कर मात्र आत्मा का अनुभव करने के समय वह गुण-गुणी भेद भी गुप्त हो जाता है अर्थात् ज्ञानगुण आत्मा में ही समाविष्ट हो जाता है, इस प्रकार केवल आत्मा का अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन है।

''हार को खरीदनेवाला आदमी खरीद करते समय हार तथा उसकी सफेदी और उसके मोती इत्यादि सब की परीक्षा करता है परन्तु बाद में सफेदी और मोतियों को हार में समाविष्ट करके-उनके ऊपर का लक्ष छोड़कर केवल हार को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो हार को पहिने की स्थिति में भी सफेदी इत्यादि के विकल्प रहने से वह हार को पहिनने के सुख का संवेदन नहीं कर सकेगा।'' [गुजराती-प्रवचनसार, पा ११९ फुटनोट] इसी प्रकार आत्मस्वरूप को समझनेवाला, समझते समय तो द्रव्य, गुण, पर्याय इन तीनों के स्वरूप का विचार करता है परन्तु बाद में गुण और पर्याय को द्रव्य में ही समाविष्ट करके-उनके ऊपर का लक्ष छोड़कर मात्र आत्मा को ही जानता है। यदि ऐसा न करे तो द्रव्य का स्वरूप ख्याल में आने पर भी, गुण-पर्याय सम्बन्धी विकल्प रहने से द्रव्य का अनुभव नहीं कर सकेगा।

हार, आत्मा है; सफेदी, ज्ञानगुण है और मोती, पर्याय हैं। इस प्रकार दृष्टांत और सिद्धांत का सम्बन्ध समझना चाहिये। द्रव्य, गुण, पर्याय के स्वरूप को जानने के बाद मात्र अभेदस्वरूप आत्मा

का अनुभव करना ही धर्म की प्रथम क्रिया है। इसी क्रिया से अनन्त अरिहंत तीर्थंकर क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करके केवलज्ञान और मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं। वर्तमान में भी मुमुक्षुओं के लिये यही उपाय है और भविष्य में जो अनन्त तीर्थंकर होंगे, वे सब इसी उपाय से होंगे।

सर्व जीवों को सुखी होना है, सुखी होने के लिये स्वाधीनता चाहिए स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये संपूर्ण स्वाधीनता का स्वरूप जानना चाहिये। संपूर्ण स्वाधीन अरिहंत भगवान है, इसलिये अरिहंत का ज्ञान करना चाहिये। जैसे अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, वैसे ही अपने हैं। अरिहंत के राग-द्वेष नहीं हैं, वे न तो अपने शरीर का कुछ करते हैं और न पर का ही कुछ करते हैं। उनके दया अथवा हिंसा के विकारी भाव नहीं होते, वे मात्र ज्ञान ही करते हैं; इसी प्रकार मैं भी ज्ञान करनेवाला ही हूँ, अन्य कुछ मेरा स्वरूप नहीं है। वर्तमान में मेरे ज्ञान में कचाई है, वह मेरी अवस्था के दोष के कारण से है, अवस्था का दोष भी मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार पहिले भेद के द्वारा निश्चित करना चाहिये, किन्तु बाद में भेद के विचार को छोड़कर मात्र आत्मा को जानने से स्वाधीनता का उपाय प्रगट होता है।

द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप जानने का फल

पर्यायों को और गुणों को एक द्रव्य में अन्तर्लीन करके केवल आत्मा को जानने पर उस समय अन्तरंग में क्या होता है, सो अब कहते हैं:—''केवल आत्मा को जानने पर उसके उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय होता जाता है; इसलिये निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है।'' [गाथा ८० की टीका]

द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद का लक्ष छोड़कर अभेदस्वभाव की ओर झुकने पर कर्ता-कर्म क्रिया के भेद का विभाग क्षय होता जाता है। और जीव निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होता है- यही सम्यग्दर्शन है।

मैं आत्मा हूँ, ज्ञान मेरा गुण है और यह मेरी पर्याय है—ऐसे भेद की क्रिया से रहित, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित, निष्क्रिय चैतन्यभाव का अनुभव करने में अनन्त पुरुषार्थ है, अपना आत्म बल स्वोन्मुख होता है। कर्ता-कर्म क्रिया के भेद का विभाग क्षय को प्राप्त होता है। पहिले विकल्प के समय मैं कर्ता हूँ और पर्याय मेरा कार्य है; इस प्रकार कर्ताकर्म का भेद होता था, किन्तु जब पर्याय को द्रव्य में ही मिला दिया, तब द्रव्य और पर्याय के बीच कोई भेद नहीं रहा अर्थात् द्रव्य कर्ता और पर्याय उसका कार्य है—ऐसे भेद का, अभेद के अनुभव के समय क्षय हो जाता है। पर्यायों को

और गुणों को अभेदरूप से आत्मद्रव्य में ही समाविष्ट करके परिणामी, परिणाम और परिणति (कर्ता, कर्म और क्रिया) को अभेद में समाविष्ट करके अनुभव करना, सो अनन्त पुरुषार्थ है। और यही ज्ञान का स्वभाव है। भंग-भेद में जाने पर, ज्ञान और वीर्य कम होते जाते हैं और अभेद का अनुभव करने पर, उत्तरोत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग क्षय होता जाता है। वास्तव में तो जिस समय अभेदस्वभाव की ओर झुकते हैं, उसी समय कर्ता-कर्म-क्रिया का भेद टूट जाता है, तथापि यहाँ 'उत्तरोत्तर क्षण में क्षय होता जाता है' ऐसा क्यों कहा है ?

अनुभव करने के समय पर्याय, द्रव्य की ओर अभिन्न हो जाती है परन्तु अभी सर्वथा अभिन्न नहीं हुई है। यदि सर्वथा अभिन्न हो जाए तो उसी समय केवलज्ञान हो जाय, परन्तु जिस समय अभेद के अनुभव की ओर ढ़लता है, उसी क्षण से प्रत्येक पर्याय में भेद का क्रम टूटने लगता है और अभेद का क्रम बढ़ने लगता है। जब पर की ओर लक्ष था, तब पर के लक्ष से उत्तरोत्तर क्षण में भेदरूप पर्याय होती थी अर्थात् प्रतिक्षण पर्याय हीन होती जाती थी, और जब पर का लक्ष छोड़कर निज में अभेद के लक्ष से एकाग्र हो गया, तब निज लक्ष से उत्तरोत्तर क्षण में पर्याय अभिन्न होने लगी अर्थात् प्रतिक्षण पर्याय की शुद्धता बढ़ने लगी। जहाँ सम्यग्दर्शन हुआ कि क्रमशः प्रत्येक पर्याय में शुद्धता की वृद्धि होकर केवलज्ञान ही होता है; बीच में शिथिलता अथवा विघ्न नहीं आ सकता। सम्यक्त्व हुआ सो हुआ, अब उत्तरोत्तर क्षण में द्रव्य-पर्याय के बीच के भेद को सर्वथा तोड़कर केवलज्ञान को प्राप्त किए बिना नहीं रुकता।

ज्ञानरूपी अवस्था के कार्य में अनन्त केवलज्ञानियों का निर्णय समा जाता है, प्रत्येक पर्याय की ऐसी शक्ति है। जिस ज्ञान की पर्याय ने अरिहंत का निर्णय किया, उस ज्ञान में अपना निर्णय करने की शक्ति है। पर्याय की शक्ति चाहे जितनी हो, तथापि वह पर्याय क्षणिक है। एक के बाद एक अवस्था का लक्ष करने पर उसमें भेद का विकल्प उठता है। क्योंकि अवस्था में खंड है, इसलिए उसके लक्ष से खंड का विकल्प उठता है। अवस्था के लक्ष में अटकने वाला वीर्य और ज्ञान दोनों रागवाले हैं। जब पर्याय का लक्ष छोड़कर, भेद के राग को तोड़कर, अभेद स्वभाव की ओर वीर्य को लगाकर, वहाँ ज्ञान की एकाग्रता करता है, तब निष्क्रिय चिन्मात्रभाव का अनुभव होता है, यह अनुभव ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

यहाँ चिन्मात्रभाव को 'निष्क्रिय' कहने का कारण क्या है ? जो कि वहाँ परिणति रूप क्रिया तो है परन्तु खण्डरूप-रागरूप क्रिया का अनुभव नहीं है। कर्ता-कर्म और क्रिया का भेद नहीं है

तथा कर्ता-कर्म-क्रिया सम्बन्धी विकल्प नहीं है, इस अपेक्षा से 'निष्क्रिय' कहा गया है, परन्तु अनुभव के समय अभेदरूप से परिणति तो होती ही रहती है। पहिले जब परलक्ष से द्रव्य-पर्याय के बीच भेद होते थे, तब विकल्परूप क्रिया थी किन्तु निज द्रव्य के लक्ष से एकाग्रता करने पर द्रव्य-पर्याय के बीच का भेद टूटकर दोनों अभेद हो गए, इस अपेक्षा से चैतन्यभाव को निष्क्रिय कहा है। जानने के अतिरिक्त जिसकी अन्य कोई क्रिया नहीं है-ऐसे ज्ञानमात्र निष्क्रिय भाव को इस गाथा में कथित उपाय के द्वारा ही जीव प्राप्त कर सकता है।

.....मोहान्धकार अवश्य नष्ट होता है

अभेद अनुभव के द्वारा 'चिन्मात्रभाव को प्राप्त करता है' यह बात अस्ति की अपेक्षा से कही है। अब चिन्मात्रभाव को प्राप्त करने पर 'मोह नाश को प्राप्त होता है' इस प्रकार नास्ति की अपेक्षा से बात करते हैं। चिन्मात्रभाव की प्राप्ति और मोह का क्षय, यह दोनों एक ही समय में होते हैं।

''इस प्रकार जिसका निर्मल प्रकाश मणि (रत्न) के समान अकम्परूप से प्रवर्तमान है, ऐसे उस चिन्मात्रभाव को प्राप्त जीव का मोहान्धकार निराश्रयता के कारण अवश्य ही नष्ट हो जाता है।'' (गाथा ८० की टीका)

यहाँ शुद्ध सम्यक्त्व की बात है, इसलिए मणि का दृष्टान्त दिया है। दीपक का प्रकाश तो प्रकम्पित होता रहता है, वह एक समान नहीं रहता, किन्तु मणि का प्रकाश अकम्परूप से सतत प्रवर्तमान रहता है, उसका प्रकाश कभी बुझ नहीं जाता; इसी प्रकार अभेद चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा में लक्ष करके वहीं एकाकाररूप से प्रवर्तमान जीव के चैतन्य का अकम्प प्रकाश प्रगट होने पर मोहान्धकार को रहने का कोई स्थान नहीं रहता, इसलिए वह मोहान्धकार निराश्रय होकर अवश्यमेव क्षय को प्राप्त होता है। जब भेद की ओर झुक रहा था, तब अभेद चैतन्यस्वभाव का आश्रय न होने से चैतन्य प्रकाश प्रगट नहीं था और अज्ञान आश्रय से मोहान्धकार बना हुआ था। अब अभेद चैतन्य के आश्रय में पर्याय ढ़ल गई है और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश प्रगट हो गया है, तब फिर मोह किस के आश्रय से रहेगा? मोह का आश्रय तो अज्ञान था, जिसका नाश हो चुका है, और स्वभाव के आश्रय से मोह रह नहीं सकता; इसलिए वह अवश्य क्षय को प्राप्त हो जाता है। जब पर्याय का लक्ष पर में था, तब उस पर्याय में भेद था और उस भेद का मोह को आश्रय था किन्तु जब वह पर्याय निज लक्ष की ओर गई, तब वह अभिन्न हो गई और अभेद होने पर मोह को कोई आश्रय न रहा; इसलिए वह निराश्रित मोह अवश्य क्षय को प्राप्त होता है!

श्रद्धा रूपी सामायिक और प्रतिक्रमण

यहाँ सम्यग्दर्शन को प्रगट करने का उपाय बताया जा रहा है। सम्यग्दर्शन के होने पर ऐसी प्रतीति होती है कि पुण्य और पाप दोनों परलक्ष से-भेद के आश्रय से हैं; अभेद के आश्रय से पुण्य-पाप नहीं हैं, इसलिये पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है, दोनों विकार हैं, यह जानकर पुण्य और पाप-दोनों में समभाव हो जाता है, यही श्रद्धारूपी सामायिक है। पुण्य अच्छा है और पाप बुरा है, यह मानकर जो पुण्य को आदरणीय मानता है, उसके भाव में पुण्य-पाप के बीच विषम भाव है, उसके सच्ची श्रद्धारूपी सामायिक नहीं है। सच्ची श्रद्धा के होने पर मिथ्यात्वभाव से हट जाना ही सर्व प्रथम प्रतिक्रमण है। सबसे बड़ा दोष मिथ्यात्व है और सब से पहिले उस महा दोष से ही प्रतिक्रमण होता है। मिथ्यात्व से प्रतिक्रमण किये बिना किसी जीव के यथार्थ प्रतिक्रमण आदि कुछ नहीं होता।

सम्यग्दर्शन और व्रत-महाव्रत

जब तक अरिहंत के द्रव्य, गुण, पर्याय का लक्ष था, तब तक भेद था; जब द्रव्य, गुण, पर्याय के भेद को छोड़कर, अभेदस्वभाव की ओर झुका और वहाँ एकाग्रता की, तब त्रैकालिक स्वभाव में मोह नहीं रहता और इसलिये मोह निराश्रय होकर नष्ट हो जाता है, और इस प्रकार अरिहंत को जाननेवाले जीव के सम्यग्दर्शन हो जाता है।

वस्तु का स्वरूप जैसा हो, वैसा माने तो वस्तु स्वरूप और मान्यता-दोनों के एक होने पर सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान होता है। वस्तु का सच्चा स्वरूप क्या है—यह जानने के लिये अरिहंत को जानने की आवश्यकता है क्योंकि अरिहंत भगवान द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप से संपूर्ण शुद्ध है। जैसे अरिहंत है, वैसा ही जब तक यह आत्मा न हो, तब तक उसकी पर्याय में दोष है—अशुद्धता है।

अरिहंत जैसी अवस्था तब होती है, जब पहले अरिहंत पर से अपने आत्मा का शुद्ध स्वरूप निश्चित करे। उस शुद्ध स्वरूप में एकाग्रता करके, भेद को तोड़कर, अभेद स्वरूप का आश्रय करके पराश्रयबुद्धि का नाश होता है, मोह दूर होता है और क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट होता है। क्षायिक सम्यक्त्व के होने पर आंशिक अरिहंत जैसी दशा प्रगट होती है। और अरिहंत होने के लिये प्रारंभिक उपाय सम्यग्दर्शन ही है। अभेद स्वभाव की प्रतीति के द्वारा सम्यग्दर्शन होने के बाद जैसे-जैसे उस स्वभाव में एकाग्रता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे राग दूर हो जाता है, और ज्यों-ज्यों राग कम होता जाता है, त्यों-त्यों व्रत-महाव्रतादि का पालन होता रहता है किन्तु अभेद स्वभाव की

प्रतीति के बिना कभी भी व्रत या महाव्रतादि नहीं होते। अपने आत्मा का आश्रय लिये बिना आत्मा के आश्रय से प्रगट होनेवाली निर्मलदशा (श्रावकदशा-मुनिदशा आदि) नहीं हो सकती। और निर्मलदशा के प्रगट हुये बिना धर्म का एक भी अंग प्रगट नहीं हो सकता। अरिहंत की पहिचान होने पर अपनी पहिचान हो जाती है, और अपनी पहिचान होने पर, मोह का क्षय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अरिहंत की सच्ची पहिचान, मोहक्षय का उपाय है।

स्वभाव की नि:शंकता

अब आचार्यदेव अपनी नि:शंकता की साक्षी पूर्वक कहते हैं कि—"यदि ऐसा है तो मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है।" यहाँ मात्र अरिहंत को जानने की बात नहीं है किन्तु अपने स्वभाव को एकमेक करके यह ज्ञान करने की बात है कि मेरा स्वरूप अरिहंत के समान ही है। यदि अपने स्वभाव की नि:शंकता प्राप्त न हो तो अरिहंत के स्वरूप का यथार्थ निर्णय नहीं होता। आचार्यदेव अपने स्वभाव की नि:शंकता से कहते हैं कि भले ही इस काल में क्षायिक सम्यक्त और साक्षात् भगवान अरिहंत का योग नहीं है, तथापि मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय प्राप्त कर लिया है। "पंचम काल में मोह का सर्वथा क्षय नहीं हो सकता" ऐसी बात आचार्यदेव ने नहीं की, किन्तु मैंने तो मोहक्षय का उपाय प्राप्त कर लिया है—ऐसा कहा है। भविष्य में मोहक्षय का उपाय प्रगट होगा—ऐसा नहीं किन्तु अब ही-वर्तमान में ही मोहक्षय का उपाय मैंने प्राप्त कर लिया है।

अहो! सम्पूर्ण स्वरूपी आत्मा का साक्षात् अनुभव है तो फिर क्या नहीं है! आत्मा का स्वभाव ही मोह का नाशक है, और मुझे आत्मस्वभाव की प्राप्ति हो चुकी है। इसलिये मेरे मोह का क्षय होने से कोई शंका नहीं है। आत्मा में सब कुछ है, उसी के बल से दर्शनमोह और चारित्रमोह का सर्वथा क्षय करके, केवलज्ञान प्रगट करके साक्षात् अरिहंत की दशा प्रगट करूँगा। जब तक ऐसी संपूर्ण स्वभाव की नि:शंकता का बल प्राप्त नहीं होता, तब तक मोह दूर नहीं होता।

सच्ची दया और हिंसा

मोह का नाश करने के लिये न तो परजीवों की दया पालन करने को कहा है और न पूजा, भक्ति करने का ही आदेश दिया है किन्तु यह कहा है कि अरिहंत का और अपने आत्मा का निर्णय करना ही मोह क्षय का उपाय है। पहले आत्मा की प्रतीति न होने से अपनी अनन्त हिंसा करता था, और अब यथार्थ प्रतीति करने से अपनी सच्ची दया प्रगट हो गई है और स्व हिंसा का महा पाप दूर हो गया है।

उपसंहार

पुरुषार्थ की प्रतीति

पहले हार के दृष्टांत से द्रव्य, गुण, पर्याय का स्वरूप बताया है। जैसे हार में मोती एक के बाद दूसरा क्रमशः होता है, उसी प्रकार द्रव्य में एक के बाद दूसरी पर्याय होती है। जहाँ सर्वज्ञ का निर्णय किया कि वहाँ त्रिकाल की क्रमबद्धपर्याय का निर्णय हो जाता है। केवलज्ञानगम्य त्रिकाल अवस्थायें एक के बाद दूसरी होती ही रहती है। वास्तव में तो मेरे स्वभाव में जो क्रमबद्ध अवस्था है, उसी को केवलज्ञानी ने जाना है। (इस अभिप्राय के बल का झुकाव स्वभाव की ओर है), ऐसा जिसने निर्णय किया है, उसी ने अपने स्वभाव की प्रतीति की है। जिसे स्वभाव की प्रतीति होती है, उसे अपनी पर्याय की शंका नहीं होती। क्योंकि वह जानता है कि अवस्था तो मेरे स्वभाव में से क्रमबद्ध आती है, कोई परद्रव्य मेरी अवस्था को बिगाड़ने में समर्थ नहीं है। ज्ञानी को ऐसी शंका कदापि नहीं होती कि "बहुत से कर्मों का तीव्र उदय आया तो मैं गिर जाऊंगा।" जहाँ पीछे गिरने की शंका है, वहाँ स्वभाव की प्रतीति नहीं है, और जहाँ स्वभाव की प्रतीति है, वहाँ पीछे गिरने की शंका नहीं होती। जिसने अरिहंत जैसे ही अपने स्वभाव का विश्वास करके क्रमबद्धपर्याय और केवलज्ञान को स्वभाव में अन्तर्गत किया है, उसे क्रमबद्धपर्याय में केवलज्ञान होता है।

जो दशा अरिहंत भगवान के प्रगट हुई है, वैसी ही दशा मेरे स्वभाव में है। अरिहंत के जो दशा प्रगट हुई है, वह उनके अपने स्वभाव में से ही प्रगट हुई है। मेरा स्वभाव भी अरिहंत जैसा है। उसी में से मेरी शुद्धदशा प्रगट होगी। जिसे अपनी अरिहंतदशा की ऐसी प्रतीति नहीं होती, उसे अपने सम्पूर्ण द्रव्य की ही प्रतीति नहीं होती। यदि द्रव्य की प्रतीति हो तो द्रव्य की क्रमबद्धदशा विकसित होकर जो अरिहंत दशा प्रगट होती है, उसकी प्रतीति होती है।

मेरे द्रव्य में से अरिहंत दशा आनेवाली है, उसमें पर का कोई विघ्न नहीं है। कर्म का तीव्र उदय आकर मेरे द्रव्य की शुद्धदशा को रोकने के लिये समर्थ नहीं है। क्योंकि मेरे स्वभाव में कर्म की नास्ति ही है। जिसे ऐसी शंका है कि 'आगे जाकर यदि तीव्र कर्म का उदय आया तो गिर जाऊंगा' उसने अरिहंत का स्वीकार नहीं किया है। अरिहंत अपने पुरुषार्थ के बल से कर्म का क्षय करके पूर्ण दशा को प्राप्त हुये हैं। उसी प्रकार मैं भी अपने पुरुषार्थ के बल से कर्म का क्षय करके पूर्णदशा को प्राप्त होऊंगा। बीच में कोई विघ्न नहीं है।

जो अरिहंत की प्रतीति करता है, वह अवश्य अरिहंत होता है। [गाथा ८० की टीका समाप्त]

मुद्रक : चुनीलाल माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय, दास कुंज, मोटा आंकडिया ता.२४-६-४७
प्रकाशक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, आत्मधर्म कार्यालय, मोटा आंकडिया, काठियावाड